श्री सद्गुरु कबीर साहबका

साखी ग्रन्थ

(द्वितीय भाग)

❁ ओम् राम ❁

॥ श्री सद्गुरु चरणकमलेभ्यो नमः ॥

—: श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा निर्मित :—

ग्रन्थमाला का षष्ठ पुष्प

श्री सद्गुरु कबीर साहबका

साखी-ग्रन्थ

(द्वितीय भाग)

परम पूज्य ब्रह्मविद्वरिष्ठ सद्गुरु श्रीमान् स्वामी
श्री हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी कृत
संक्षिप्त सारबोधिनी टीका सहित

सम्पादक :—
परमपूज्य प्रातः स्मरणीय अनन्त श्री स्वामी
श्री हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी

प्रकाशक :—
श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा ट्रस्ट
वडोदरा (गुजरात)

सन्—१९८५
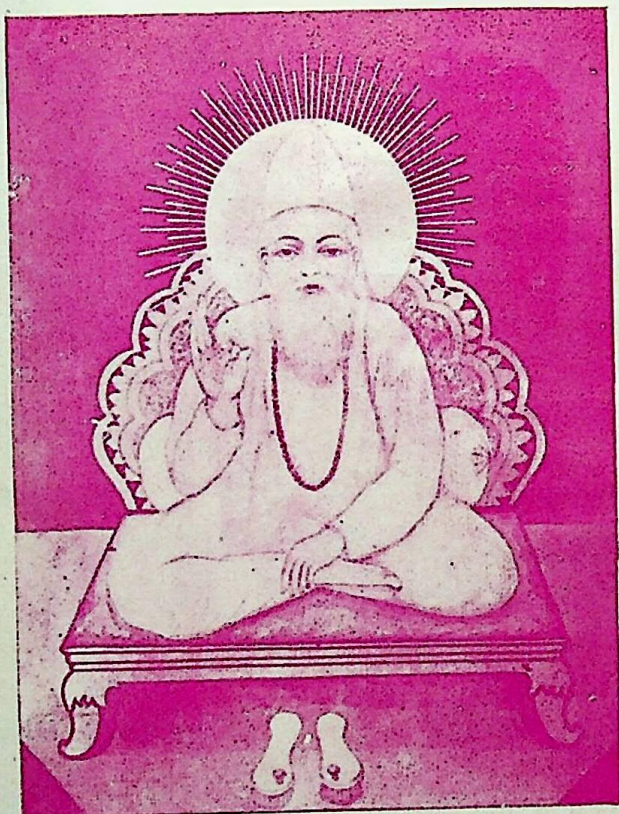
ओम् राम

सन्त मतके आद्य प्रवर्तक, आध्यात्मिक अपरोक्ष अनुभूतिके
प्रेरक तथा हिन्दी भाषामें उपनिषद्रूप
बीजक ग्रन्थके प्रणेता

श्री सद्गुरु कबीर साहब

274

* ओम् राम *

मंगलम्

सत्साहित्यसुधां निपीय सुधियस्
त्यक्त्वा विषं वासनाम्।
पञ्चक्लेश समुद्भवां जनिमतां
दुःखप्रदां सर्वदा॥

ज्ञानं शान्तिकरं पुनर्भवहरं
प्रज्ञा प्रकर्षोज्ज्वलम्।
सौख्यं देवसुदुर्लभं च धरणौ
प्राऽऽसादयन्तु द्रुतम्॥

सुधीजन सज्जन, सत्य साहित्यरूपी सुधा को संतों के यथार्थ साहित्य भली-भाँति पान करके देहधारी मनुष्यों के पञ्चक्लेशों अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश से उत्पन्न सदा दुःखप्रद वासनारूपी विष को त्यागकर प्रज्ञाकर्ष से उद्दीप्त जन्म मरण को हरने वाले शान्तिकर ज्ञान और देव दुर्लभ निरतिशय परमानन्द को धरातल पर शीघ्र प्राप्त करें॥

* ओम् राम *

संस्था का परिचय

श्री सद्गुरु कबीर साहब का साहित्य अध्यात्मतत्त्व से सभर है। उनका उपदेश मानव समाज के लिए ऐक्य, विश्वबन्धुत्व की भावना और अध्यात्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति के लिए रहस्यमय उपदेश है। उनके उपदेशों को और उनके साहित्य को सुचारु रूप से समझने के लिए परम पूज्य अनन्त श्री सिद्ध श्री ब्रह्मविद्वरिष्ठ सद्गुरुदेव श्री स्वामी श्री हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी ने, श्री बीजक ग्रन्थ, शब्दामृत सिन्धु, साखी ग्रन्थ आदि की टीकाएँ और श्री चित्सुखी, ब्रह्मसूत्र, खण्डनखण्ड-खाद्य, गीता, विचारसागर, तत्त्वार्थमणिमञ्जूषा, तत्त्वार्थमणिमाला, तत्त्वार्थ दोहावली, अध्यात्म तत्त्व सम्वाद, मनोबोध, अनन्त परिचय, कबीर परिचय, विचार चन्द्रोदय, सद्धर्मचन्द्रिका, लघु धर्म चन्द्रिका, अध्यात्म प्रकाश, वैराग्य प्रकाश, कबीर कौशल सार, तीसायन्त्र, दिव्य नामावली, बीजकार्थ सार संग्रह, आदि कई ग्रन्थों की टीकाएँ और रचना की हैं। परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव श्री स्वामीजी साहब का सर्व साहित्य श्री सद्गुरु कबीर साहब के साहित्य को यथार्थ रूप में समझने के लिए अतीव उपयोगी और सहायभूत है।

परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव श्री स्वामीजी साहब की अभिव्यक्ति ही परब्रह्मस्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति रूप है। उनकी आध्यात्मिक स्थिति और उनका व्यक्तित्व अवर्णनीय है। शब्दों में उनके आनन्द का उनके ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप का वर्णन कैसे हो सकता है। वे तो स्वयंवेद्य हैं! वे सर्वत्र, सर्वदा भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे, दायें, बायें, हरघडी, हरठौर, केवल सर्वात्मा राम का ही दर्शन करते हैं। वे स्वयं रामस्वरूप हैं। ऐसे महापुरुषों के दर्शन ही दुर्लभ हैं। उनकी दृष्टि भी जिस पर पडती है वह

279

प्रेम में मस्त हो जाता है। वे जहां रहते हैं वहां के परमाणुओं में भी प्रेम भरा रहता है। उनके चरणों को चूम कर पृथ्वी भी अपनी भाग्य सराहती है। उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी अद्भूत शक्ति है कि जो मनुष्य को उनके समीप जाते ही एक क्षण में प्रेम रस में मग्न कर देती है। उनकी मधुर मृदुवाणी के प्रवाह में यह ताकत है कि वह सबको अपना बना लेती है, और मन को शान्ति देकर मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करती है। आधुनिक युग के वे एक अनुपम प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। अपनी प्रतिभा के बल से उन्होंने अनेक परिस्थितियों का सामना किया, और समाज का उत्थान किया, भक्ति रस का सिंचन किया, और सद्गुरु कबीर साहब का पवित्र अमर संदेश जगत को तादृशरूप में समझाया। उनका व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं का पुञ्ज है। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सिद्धयोगी वीतराग महाउपदेशक और आधुनिक विश्व में ज्ञान की पराकाष्ठा में पहँचे हुए महान सिद्ध सन्त पुरुष हैं। आप निवृत्तिमार्ग के परम सन्त नेता हैं। शास्त्रों में और सन्त मत में वर्णित जीवनमुक्त दशा में आप स्थित हैं।

आपके साहित्य का सुचारु रूप से अधिक प्रसार प्रचार करने के लिए और इस साहित्य की सेवा अवरोध रहित सतत अस्खलित प्रवाह के रूप में हमेशा के लिए चालु रहे, इस उद्देश्य से इस साहित्य सभा ट्रस्ट का निर्माण ता० ४-२-१९७६ वसन्त पञ्चमी के रोज हुआ। इस संस्था को गुजरात राज्य के धी बोम्बे पब्लीक ट्रस्ट एक्ट अनुसार वड़ोदरा में एसी० चेरीटी कमीश्नर, वड़ोदरा की ऑफिस में रजिस्टर्ड कराया गया है। इसका ट्रस्ट-रजिस्ट्रेशन नं० २४९८ है।

इस ट्रस्ट की साहित्य सेवा की प्रवृत्ति ट्रस्ट के स्थायी कोष के व्याज में से की जाती है। इसके लिए पुस्तकें, पुस्तिकाएँ, और सामयिकों का प्रकाशन कोई भी सम्प्रदाय या जाति को लक्ष्य में न रखकर सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर करने का उद्देश्य है। ट्रस्ट का साहित्य जाहेर जनता

के लिए नफा रहित, लागत मूल्य से या लागत मूल्य से भी कम मूल्य से, या अमूल्य वितरण करने का उद्देश्य रखा गया है।

इस ट्रस्ट के साहित्य की ग्रन्थमाला के षष्ठ पुष्प के रूप में इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हम अतीव आनन्द की अनुभूति कर रहे हैं। इस पुस्तक से आम जनता अध्यात्मतत्त्व की अनुभूति के लिये प्रेरित और लाभान्वित हो यही उसकी सार्थकता है। इस ट्रस्ट के स्थायी कोष के लिए सहायता आवकार्य है।

इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति सन् १९५२ में दो भाग में छपाई गई थी। अब वह अप्राप्य होने से इसकी संशोधित आवृत्ति का प्रथम भाग इस ट्रस्ट द्वारा पञ्चम पुष्प के रूप में सन् १९८४ में छपाया है। उसका द्वितीय भाग प्रकाशित करने का शुभ अवसर इस ट्रस्ट को इस साल प्राप्त हुआ है, इसके लिए ट्रस्टी मंडल कृतकृत्य है। आंशिक आर्थिक सहयोग के लिए श्री रमणभाई छगन भाई पटेल मु० सीमली (जि० वडोदरा) धन्यवाद के पात्र है।

इसकी छपाई प्रुफ संशोधनादि में श्री सद्गुरु देव के कृपापात्र रामचक के अनन्य सेवक भक्त शिरोमणि श्री वासुदेव प्रसाद जी ने तथा गुरु सेवी आत्मीय सन्त श्री बालेश्वरदासजी साहब वेदान्त शास्त्री ने अन्य सुविधा देकर सहायता प्रदान की है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

ओक्टोबर २, १९८५
वाराणसी

आपका नम्र सेवक
चन्द्रकान्त मणिलाल मेहता
ट्रस्टी-मंत्री

अनुक्रमणिका

———

ओम् राम

स्थितप्रज्ञ तथा गुणातीत दशाके आदर्शमूर्ति

×

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री स्वामी हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी

श्रीसद्गुरुस्तुतिः ।

—:*:—

विरक्तं सुसन्तं महाबोधवन्त जनध्वान्तहन्तारमेकं निरीहम् ।
निराबाधमाद्यं कृपालुं कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।१।।
सदा वेदवेदान्तवेद्यं तुरीयं गुणातीतमच्छं परं पावनं हि ।
अनन्तं चिदाकाशरूपं कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं नमामि ।।२।।
विशुद्धं विमुक्तं शिवं सङ्गहीनं सुखाकारमाद्यन्तहीनं वरेण्यम् ।
अपारं सदा सम्विदाकाररूपं कबीरं कवीन्द्रं यतीन्द्रं नमामि ।।३।।
निराधारमेकं स्वसिद्धं गभीरं भवाब्धेः सुतीरं [१]मनोमौलिहीरम् ।
सुधीरं सुधासागरं सत्कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।४।।
गतप्रातिमं[२] प्राणपूज्यं प्रसिद्धं महिम्नि स्थितं स्वे सदा निर्विकारम् ।
सदाकारमोंकारगम्यं कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।५।।
समं साङ्गबोधं निरङ्गं सदङ्गं न भूतं भविष्यन्तमावर्तमानम् ।
सदा कालिकाऽऽसङ्गहीनं कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।६।।
जगद्येन वास्यं न वास्यं यदन्यैर्निरस्तं [३]समस्तं भवेद्यत्प्रबोधात् ।
विरक्तैः सुभक्तैः सदा ध्यायमानं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।७।।
विना वेदनं यो न पाति प्रबोधादवश्यं त्ववत्येव यो ध्यायमानः ।
विरक्तेन सत्येन लभ्यं कबीरं कवीन्द्रं मुनीन्द्रं यतीन्द्रं भजामि ।।८।।

———

(२)

योगीश्वरं विदितवेद्यमनन्तमाद्यं,
ब्रह्माद्वितीयमजरं विमलं विमुक्तम् ।
यं ह्यव्ययं विभुमचिन्त्यमनन्तबोधं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। १ ।।

---

१ मनोरूपस्य कोरीटस्य हीरम् । २ प्रतिमोपमादिरहितम् ।
३ विक्षेपादिकारणं निखिलम् ।।

ज्ञानस्वरूपमकलं तमसः परस्ता-
दाद्यन्तहीनमचलं परमं पुमांसम् ।
आदित्यवर्णमभयं परमं पवित्रं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। २ ।।

यं शंकरं सकललोकसुशङ्करत्वा-
ज्ज्ञानप्रदं विदितयोगमनेकमूर्तिम् ।
एकं त्वनन्तगुणकं कमनङ्गकेतुं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। ३ ।।

धातारमीश्वरमनन्तविधानहेतुं,
धर्मार्थहेतुमतिपूज्यविमुक्तिहेतुम् ।
सर्वप्रियं स्ववशगं विमदं विहेतुं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। ४ ।।

कर्तारमेकमनघं विमलाद्यकीर्तिं,
धर्तारमीशमनवद्यगुणं स्वतन्त्रम् ।
हर्तारमाशु शमनस्य खलस्य मन्योः,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। ५ ।।

आनन्दरूपमपरं च परं च विष्णुं,
सर्वाऽऽकरं गतभिदं मुदितं च सर्वम् ।
कामादिदोषरहितं सहितं प्रमोदैः,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। ६ ।।

कर्तृत्वशून्यमनघा ह्यनघं वदन्ति,
वेदान्तवेद्यमखिलात्महितं वरेण्यम् ।
नित्य निरञ्जनसुखं खलु चित्स्वरूपं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ।। ७ ।।

आश्रित्य यं निखिलमोहगणो विभाति,
दुर्बोधतो न तु परार्थविशुद्धबोधे ।
निष्कम्पकान्तवपुषं कमलासनस्थं,
सन्तो वदन्ति तमहं सुगुरुं प्रपद्ये ॥ ८ ॥

———

(३)

क्षमावन्तं सन्तं विमलधिषणं शान्तकलनं,
दयागारं सारं कलिकलुषसंघातकमहो ।
विरक्तं निर्वैरं शमदमविचारादिकुशलं,
कबीरं बोधाढ्यं[1] ह्यभयपददं नौमि सततम् ॥ १ ॥

महामोहद्रोहप्रभृतिकलुषैर्दोषनिवहै-
रलिप्तं निर्गर्वं विगतमददुर्दम्भमधुरम् ।
अलुब्धं संशुद्धं स्थिरमतिमनासक्तमनसं,
कबीरं बोधाढ्यं ह्यभयपददं नौमि सततम् ॥ २ ॥

अकामं कामानां विषयपरमानन्दवपुषं,
सतः सत्यं ज्ञानं विमलविदुषां ध्यानविषयम् ।
परं धीरं वीरं परुषकलिकामादिरिपुषु,
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ३ ॥

सदाचारैः शीलैर्विमलतमबोधैश्च विमलं,
परावित्त्या[2] वित्तं विगतविभिदं भ्रान्तिहरणम्
गुणातीतं चैकं [3]चरममतिगं [4]चारुचरणं,
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ४ ॥

---

१ बोधैराढ्यं धनिनस् २ परया विद्यया ख्यातम् । ३ अन्त्यबुद्धिविषयम् । ४ शोभनचरणम् ।

समं शत्रौ मित्रे चिति समरसायां स्थिरमतिं,
समं मानेऽमाने मृदि च कनके तुल्यधिषणम् ।
स्तुतौ निन्दायां वै विगतविकृतिं सङ्गरहितं,
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ५ ॥
शुचिं दक्षं [1]पक्षाद्रहितमनपेक्षं च [2]मसृणं,
गतध्वान्तं कान्तं कमलकमलाकान्तसुहृदम् ।
जगन्मित्रं मित्रं विगतभवचित्रं सदमृतं,
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ६ ॥
निराकारं नित्यं निगमनिकुरम्बेषु विदितं,
निरीहं निर्दोषं निरवधिसुखं बोधवपुषम् ।
विभुं वेधोमृत्युञ्जयपरमथो सर्वदयितं
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ७ ॥
मुमुक्षूणामेकं विपदि वरबन्धुं च शरणं,
सखायं सर्वेषां हितविधिपरं मातृसदृशम् ।
गुरुं सत्याचार्यं विततसदनाहार्यधिषणं,
कबीरं बोधाढ्यं परमपददं नौमि सततम् ॥ ८ ॥

---

(४)

विरागिणं विरागदं ह्यकामिनां स्वधामदम् ।
विवेकिनं विवेकदं नमामि शान्तविग्रहम् ॥ १ ॥
सुखाऽऽकरं सुशंकरं त्वहिंसकं हितं वरम् ।
सुयोगिनं सुयोगदं नमामि बोधविग्रहम् ॥ २ ॥
निरञ्जनं निराश्रयं गतव्यलीकमद्भुतम् ।
सदैव पूतमव्ययं नमामि शुद्धविग्रहम् ॥ ३ ॥

---

१ सहायादे रहितं स्वतन्त्रम् । २ अकर्कशं स्निग्धम् ॥

त्रिशुद्धबोधशालिनं सुभक्तिबोधपालिनम् ।
कृपाब्धिकायकेवलं नमामि कान्तविग्रहम् ॥ ४ ॥

ग्रहातिवेगहारिणं ह्यतिग्रहान्तकारिणम् ।
स्वभक्तदोषनिग्रहं नमामि शान्तविग्रहम् ॥ ५ ॥

भवाम्बुपारदेशिनं क्षमाकृपानिदेशिनम् ।
विशुद्धबोधदायिनं सदा शुचिं ह्यमायिनम् ॥ ६ ॥

[1]चलाचलेऽचलाचलं [2]तलातलेऽतलातलम् ।
[3]पतापतेऽपतापतं नमामि तापपातहम् ॥ ७ ॥

हनूमतो हितं सदा निवारिताऽखिलाऽऽपदम् ।
[4]अखण्डसम्पदा सुधीविधायिनं गुरुं भजे ॥ ८ ॥

---

(५)

अजरसं ह्यकथं सुकृतं विभुं सुपुरुषं स्वमराश्रयवासिनम् ।
अविगतं स्वमरं ह्यविनाशिनं गुरुतमं करुणामयमाश्रये ॥ १ ॥

मुनिमभेदमनन्तमगोचरं ह्यगुणमक्षरमादिमरूपकम् ।
अचलमन्तमनन्तमयोनिजं पतिमनाहतरक्तमहं भजे ॥ २ ॥

अमृतमन्तकनाशकमग्र्यकं विजितमानसमव्ययमच्युतम् ।
स्ववशिनं ह्यभयं सुपुराणकं सुजनशंसुविधायिनमाश्रये ॥ ३ ॥

अमितमादिमुनिं सुखसागरं गुरुमुनीन्द्रमजातमकालकम् ।
अखिलरक्षकमभ्रमनामकं विगतपापमलोभमहं भजे । ४ ।

सुसुखिनं ह्यजितं निरहंकृतिं जननमृत्युहरं त्वतिसूक्ष्मकम् ।
निखिलमूलममोघममायिकं ततमनादिमवर्णमहं भजे ॥ ५ ॥

---

१ चञ्चलेऽचञ्चलम् । २ ससीमे निःसीमम् । ३ नश्वरेऽनश्वरम् ॥
४ सर्वथा प्रामाणिकेनोपदेशेन ॥

सुशरणं विगतारिमगम्यकं विगतशोकमसंशयनामकम् ।
विगतचिन्तमनीहममूलकं विगतकामकलङ्कमहं भजे ॥ ६ ॥

अकुलकं वरभक्तजनप्रियं सकलबन्धविभेदनमादरात् ।
स्थिरतरं ह्यतिधीरमगाधकं विगतलेपदयालुमहं भजे ॥ ७ ॥

जितषडिन्द्रियमक्षरनिर्गतं भवमहाब्धिषु तारणनाविकम् ।
सकलहंसपतिं समभुक्तिदं जगति योगवितायिनमाश्रये ॥ ८ ॥

---

(६)

दीनबन्धुं दयासिन्धुं सच्चिदानन्दरुपिणम् ।
अखिलस्नेहमस्नेहं कबीरं गुरुमाश्रये ॥ १ ॥

सद्गुरुं [1]प्राणनाथं स्वं सन्तोषकोशरूपिणम् ।
शीतलं शीलवन्तं तमाचार्यवपुषं भजे ॥ २ ॥

सत्यं सदीश्वरं हंसं [2]हिरण्यदीप्तिनामकम् ।
[3]सोऽहं सोऽहंगनामानं [4]सत्त्वद्वीपाभिमण्डनम् ॥ ३ ॥

सर्वयोगाश्रयं सारं धर्माध्यक्षं कविं परम् ।
अनादि ब्रह्म नो वश्यं कस्यचित्पुरुषोत्तमम् ॥ ४ ॥

निर्विकारं निराधारं [5]सत्यलोकाश्रयं सदा ।
अधमोद्धारणं नित्यं नित्यज्ञानमहं भजे ॥ ५ ॥

सर्वदर्शिनमात्मानं महेन्द्रं व्यापकं ह्यजम् ।
शान्तिदं मुक्तिदं शुद्धं सर्वातीतं गतोपमम् ॥ ६ ॥

---

१ प्राणस्य प्राणं रक्षकम् । २ हिरण्यस्येव दीप्तिर्यस्य तस्य नामेव नामास्ति यस्य तम् । ३ स ईश्वरोऽहं जीवः कर्ता तयोरात्मा तयोरन्वानुगतब्रह्मनाम्ना प्रसिद्धं यद् ब्रह्म तत्स्वरूपम् । ४ रजस्तमोमध्यगतस्य सत्त्वस्य प्रकाशकम् । ५ सत्यानां लोकानां साधुजनादीनामाश्रयम् ॥

अक्षोभं गतसंमोहं गतक्लेशं परंपदम् ।
अकुण्ठं कर्मभिर्मुक्तं ह्यवाच्यं स्तुतिगोचरम् ॥ ७ ॥

अनन्तकीर्तिसंयुक्तं सदाऽद्यन्तविवर्जितम् ।
निर्विकल्पंनिराकारं सदाचारं गुरुं भजे ॥ ८ ॥

स्वेच्छाधृतशरीरं च शरीरत्रयवर्जितम् ।
कबीरं हनुमद्देवं हनूमान् भजते हितम् ॥ ९ ॥

श्रीमोहनगुरुं श्रीमद्रमितारामममव्ययम् ।
श्रीहरिहरनामानं कृपालुं गुरुमाश्रये ॥ १० ॥

गुरून् सर्वान्निमस्यामो युक्तमुक्तिविधायकान् ।
श्रोत्रादीनां हितं नित्यं कुर्वन्तु नित्यमङ्गलम् ॥ ११ ॥

----

(७)

कुशलसदनचर्चः कामकल्कादिहीनः,
अभयदधृतमुद्रः श्वेतसत्कान्तिवासाः ।
चरणतलविचित्रे पादुके संदधानः,
शिरसि मणिसमां यष्टोपिकां तन्नमामः ॥ १ ॥

कुशलस्य सदनं (गृहं) चर्चा (वार्ता) यस्य, अभयदा धृता मुद्रा (आकारो) येन, सती (विद्यमाना) कान्तिर्यस्य तत्सत्कान्ति श्वेतं च तत्सत्कान्तिश्वेतसत्कान्ति श्वेतसत्कान्ति वासो यस्य । चरणतलाभ्यां विचित्रे (शोभिते -- चरणाङ्कैर्विचित्रे) पादुके संदधानः । शिरसि मणितुल्यां च टोपिकां संदधानो यः सद्गुरुस्तं वयं नमामः ॥ १ ॥

यदंघ्र्यंशोल्लीनंरुदयसमयारक्तरविभिः,
समैर्ध्यातैर्नूनं नखमणिगणैः पापदशकम् ।
महत्तीव्रं छिन्नं भवति तिमिरं तापजनकं,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ॥ २ ॥

यस्य सद्गुरोरंघ्र्यंशेषु पादभागेषु उल्लीनैरौन्नत्येन स्थितैः उदयसमयस्य-आरक्ता ये रवयस्तैः सहतुल्यैः नखो मणिरिव नखमणिस्तस्य गणैः समूहैर्ध्यातैर्नूनं निश्चितं पापानां दशकं (दशसंख्यायुक्तं समुदायं मनोवचःकायसंपादितं) तापजनकं तीव्रं महत् तिमिरं च च्छिन्नं भवति, भवस्य तरणिभूतपादाङ्कसहितं तं कबीरं वन्दे ॥ २ ॥

सुगुल्फौ यस्योच्चैः सुगुफितसमौ योगनिवहैः,
क्षमाद्यैस्तौ पुष्टाविव सुविमलौ पार्ष्णिसहितौ ।
समौन्नत्यं पादे दिशति जनकल्याणनिवहम्,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ॥ ३ ॥

यस्य सद्गुरोर्योगमयशरीरत्वात् । योगनिवहैः सुगुफितसमौ, उच्चैः [१]सुगुल्फौ वर्तेते । किञ्च [२]पार्ष्णिसहितौ सुविमलौ तौ क्षमाद्यैर्योगाङ्गैः पुष्टाविव भातः, यस्य च पादे (चरणयोः) स्थितं सममौन्नत्यं जनानां कल्याणस्य निवहं दिशति (ददाति) भवतरणिपादाङ्कसहितं तं कबीरं वन्दे ॥ २ ॥

रजोलग्नं पादे भवति हि भवघ्नं सकृदपि,
जनैर्ध्यातं सम्यग् गमयति गुणातीतपदवीम् ।
यदंघ्रौ न प्रीतिर्भवति विमले पापमनसां,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ॥ ४ ॥

यस्य गुरोः पादयोर्लग्नं रजः सकृदपि जनैर्ध्यातं सत् भवघ्नं भवति गुणातीतपदवीं मार्गं च गमयति, विमले यदंघ्रौ च पापमनसां प्रीतिर्न भवति तं वन्दे ॥ ४ ॥

भवाम्भोधौ मग्नान् सपदि च समुद्धर्तुमशकत्,
समं जंघाजानुप्रभृति तरणिस्तम्भसदृशम् ।
यदष्ठीवच्चोच्चैः प्रमुखशिवकैलासविशदम्,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ॥ ५ ॥

---

१ पादग्रन्थी । २ ग्रन्थ्योरधोभागः पार्ष्णिरिति कथ्यते ॥

यस्य सद्गुरोस्तरणिस्तम्भेन गुणवृक्षकेन तुल्यं जंघाजानुप्रभृति (जंघाजान्वादि) समं (सर्वं) भवाम्भोधौ मग्नान् सपदि (झटति) समुद्धर्तुमशकत् समर्थोऽभूत् । किञ्च यस्योच्चैरष्ठीवत् (जानूरुसंधिः) प्रमुखस्य शिवस्य कैलास इव विशदं वर्तते तं वन्दे ।। ५ ।।

कटः कामैर्हीनोऽप्यखिलकलिकल्याणपदवी,
विनिद्रामध्येऽस्याऽऽवसति ननु नाडी यतिचरी ।
समः शुद्धो वस्तिर्विगतमललोकोऽत्र वसति,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। ६ ।।

यस्य सद्गुरोः कटः (कटिप्रदेशः) सर्वकामरहितोपि सन् संपूर्णकलिषु कल्याणस्य मार्गस्वरूपो विद्यते, यस्मादस्य कटस्य मध्ये सदा विनिद्रा यतिचरी नाडी अवश्यं वसतिस्म । किञ्चास्य समरसः शुद्ध एव वस्तिर्वर्तते योगमयशरीरत्वात्, अत्र च वस्तौ विगतमललोकः (मलरहितः प्रकाशः) एव वसति नान्यत्किञ्चित् ।। ६ ।।

समा निम्ना नाभिर्भयविगतविज्ञाननिलयः,
विभोर्देवस्यासौ सरणिरथकल्याणकलिता ।
पिचण्डं यस्याच्छं विगतदरभव्यं त्रिवलिकं,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। ७ ।।

यस्य समरसा निम्ना नाभिर्भयरहितस्य विज्ञानस्याश्रयो वर्तते, विभोर्देवस्याथासौ नाभिः कल्याणयुक्ता सरणि (मार्ग) रूपा वर्तते, यस्य चाच्छं विगतदरं (भयरहितं) च भव्यं (शुभं) त्रिवलियुक्तं पिचण्डमुदरं वर्तते तं वन्दे ।। ७ ।।

विमृष्टं पृष्ठं सत्समसुखदसत्क्रोडसहितम्,
महास्कन्धौ गूढ़े परमविमले जत्रुपटले ।
अपक्षौ कक्षौ यौ दिवि भुवि च नान्यत्र विदितौ,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। ८ ।।

यस्य सद्गुरोः पृष्ठं सत् (अविनश्वरं) समं यत्सुखं तद्दानसमर्थेन सता समीचीनेन क्रोडेन (अङ्केन) सहितं विमृष्टं (शुद्धं) वर्तते, किञ्च महान्तौ स्कन्धौ (अंसौ) वर्तेते, जत्रुपटले (अंसकक्षसन्धी) परमविमले गूढे (गुप्ते) वर्तेते । कन्धौ (बाहुमूले) अपक्षौ (विरोधरहितौ) स्वर्गादावपि दुर्लभौ वर्तेते तं वन्दे ।। ८ ।।

उरो ह्युच्चै रम्यं मणिकलितकापाटसदृशम्,
विशालं च स्वच्छाऽरुणिमयुतसत्स्फाटिकसमम् ।
अहो दीप्तं चैतल्लसति महदादर्शसमितम्,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। ९ ।।

मणिभिः कलितं (गुम्फितं) यत् कपाटमेव कापाटम् तेन सदृशम्, स्वच्छं च तदरुणिमया युतं च सत् स्फाटिकेन (स्फटिकविकारेण) समम् विशालं रम्यमुच्चैरुरो यस्याहो (अद्भुतं) महदादर्शेन समतां गतं दीप्तमेतल्लसति शोभते तं वन्दे ।। ९ ।।

महाबाहू भक्ताऽभयहितनियुक्तौ सुवचसा,
शुभा कम्बुग्रीवा त्ववटुरतिसूक्ष्मोऽविलुलितः ।
मुखं रम्यालापैर्हितविधिपरैर्यस्य लसति,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। १० ।।

यस्य महान्तौ बाहू सुवचसा भक्तानां हि अभये हिते नियुक्तौ वर्तेते, शुभा कम्बुवत् शङ्खवत् त्रिवलययुक्ता ग्रीवा च वर्तते, अवटुः कृकाटिका अतिसूक्ष्मोऽविलुलितोऽचंचलो वर्तते, वदनं च हितविधिपरैः रम्यालापैर्लसति तं वन्दे ।। १० ।।

शुभा नासा दीर्घा त्वतिविरललोमा शुभवहा,
लसच्चिन्हैश्चारुद्युतिचययुतं सद् यदलिकम् ।
सुरक्तावोष्ठौ यन्नयनकरपादं च हृदयम्,
कबीरं वन्दे तं भवतरणिपादाङ्कसहितम् ।। ११ ।।

अतिविरलमतिपेलवं लोम रोम यस्यां शुभवहा शुभावहा दीर्घा शुभा यस्य नासा नासिका वर्तते, अलिकं ललाटं च चिन्हैर्लक्षणै रेखाभिर्लसत् शोभायमानं चारु सुन्दरं द्युतिसमूहयुक्त वर्तते, ओष्ठौ अधरौ सुरक्तौ वर्तेते, यन्नेत्रादिकं च सुरक्तं वर्तते तं वन्दे ॥ ११ ॥

चारुचिबुकयुतमतिसुखकन्दम्,
दिव्यरदनहनुयुतशुभगण्डम् ।
आयतरुचिरचिकुरयुतशीर्षम्,
नौमि तिलकवरधरमनवद्यम् ॥ १२ ॥

रुचिरचिबुकयुक्तं, अतिसुखकन्दमतिशयेन सुखस्य मूलम्, दिव्यरदनादियुक्तौ शुभौ गण्डौ कपोलौ यस्य, आयतैः दीर्घैः रुचिरैश्चिकुरैर्वालैर्युक्तं शीर्षं शिरो यस्य, अनवद्यमगर्ह्यं तिलकवरधरं तं वन्दे ॥ १२ ॥

कर्णापाङ्गौ मिलितसदृशौ यस्य भातो बृहत्वात्,
भव्यैर्भावैर्विगतमदनैर्भासितौ यद्भ्रुवौ च ।
तस्यापाङ्गाऽयनविषयतां प्रापितश्चेदहं स्यां,
धन्यो मुक्तो विमलधिषणो नास्ति शंकाऽत्र कापि ॥ १३ ॥

कर्णापाङ्गौ श्रोत्रनेत्रान्तौ बृहत्वाद्धेतोर्मिलितसदृशौ भातः, भव्यैः शुभैः विगतमदनैः कामरहितैर्भावैरभिप्रायैः यस्य भ्रुवौ भासितौ प्रकाशितौ वर्तेते, तस्यापाङ्गस्य नेत्रान्तस्य यदयनं वर्त्म तद्विषयतां प्राप्तश्चेदहं स्याम् तदा धन्यादिः स्यामत्र कापि शंका नास्ति ॥ १३ ॥

———

शुद्धि-पत्र

नोट--कहीं-कहीं दीर्घ ऊकार, मात्रा, रेफ, ह्रस्व तथा दीर्घ ईकार, अनुस्वार, अर्ध बिन्दी बरोबर उठे नहीं हैं सो पाठकगण सुधार कर पढ़ने का कष्ट करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१	अहश्यत्म	अहश्यात्म
३८	१५	म	मे
३८	१७	क	के
४४	२३	भल	भूल
४७	१५	ग्रह्म	ब्रह्म
५१	१४	घलि	धूलि
५१	२३	दघ	दूध
५५	४	सझै	सूझै
५७	१२	विहना	विहूना
६४	१२	शोकाकि	शोकादि
८६	२०	टटने	टूटने
९१	१२	धर	धूर
१११	२४	अभिमादि	अभिमानादि
१२९	५	माग	मार्ग
१३२	१	कम	कर्म
१४४	१७	चरै	चारै
१४४	२५	सर्य	सूर्य
१६६	३	दाम	दान
१९३	६	ढ़ंढ़त	ढूंढ़त
२०६	१६	कर्यों	क्यों
२१०	१	कमा	कभी
२१४	६	कतृत्व	कर्तृत्व
२३७	६	कवीरु	कबीर
२५१	२२	व्यञ्चनादि	व्यञ्जनादि

* ओम् राम *

॥ श्री सद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्री सद्गुरु कबीर साहबका साखी ग्रन्थ

(द्वितीय भाग)

अथ असाधु का अंग ॥ ४० ॥

जेता मीठा बोलना, तेता साधु न जान।
पहले थाह दिखाय के, उहडे देसी आन ॥ १ ॥

ऊज्वल देखि न धीजिये, बग ज्यों लावै ध्यान।
धोरे बैठि चपेटसी, औ लै बूडै ज्ञान ॥ २ ॥

ज्ञानी मूल गमाइया, अपने कर्ता होय।
ताते संसारी भला, निश दिन डरता जोय ॥ ३ ॥

बाबी कूटै बावरा, सांप न मारा जाय।
मूरख बाबी न डंसै, सांप जगत को खाय ॥ ४ ॥

सौ मन दूध बटोरिया, टिपके किया विनाश।
दूध फाटि कांजी भया, भया घीव का नाश ॥ ५ ॥

उहडे (गहिरे-अथाह) कठिन मार्ग में आन (पहुँचा) देगा ॥ १ ॥ न धीजिये (विश्वास नहीं कीजिये), धोरे (पास) में बैठ कर चपेटेगा (मारेगा) और ज्ञान विवेक को हर लेगा ॥ २ ॥ कुसंग से ज्ञान के ले बूड़ने (नष्ट होने) पर भी जो ज्ञानी कहलाता है सो ज्ञानी अपने कर्ता होकर अभिमानी बनकर अपने मूल तत्त्व को गमाया, उससे तो संसारी भला है जो सदा कुकर्मादि से डरता रहता है ॥ ३ ॥ कोई बावरा कुबुद्धि सर्प का घर देह बील को कूटता (कष्ट देता है) परन्तु उससे सर्प नहीं मारा जाता

है, और बील तो काटता नहीं है, सांप जगत को खाता है ॥ ४ ॥ टिपका (तीक्ष्ण खटाई के बिन्दु) सौ मन दूध को फाड़ कर कांजी (पानी तुल्य) करता है, तैसे ज्ञान को कुबुद्धि नष्ट करती है ॥ ५ ॥

रैनि पुरै बासर घटै, बन अंधियारा होय।
लागि रहा फूला फला, पथ नहिं काटा कोय ॥ ६ ॥

असाधुता से मोहादि रूप रात्री दिन २ पूर्ण होती (बढ़ती) है, ज्ञानादि रूप वासर (दिन) प्रकाश घटता है, तथा संपूर्ण संसार बन शरीरेन्द्रिय अज्ञानात्मकान्धकारसे आच्छन्न होता है, तो भी जो संसार में लाग रहा (आसक्त) है, उसके लिये इसमें कर्मादि फूल और सुख दुःखादि रूप फल लगते हैं। परन्तु इसमें लाग रहने वाला कोई भी इस बन का पथ (जन्म मरणादि) को नहीं काटने पाता है। तथा बाल्य युवा अवस्था रूप अज्ञान मोहमय रात्री के पुरने (समाप्त होने) पर कुछ होशमय वृद्धावस्था के भी घटने पर अतिवृद्धता से नेत्रादि की शक्ति घट जाती है, तो भी संसार में लगे रहने वाला पुत्र पौत्रादि से अपने को कृतार्थ मानता है ॥ ६ ॥

इति असाधु का अंग ॥

———

अथ साधु का अंग ॥ ४१ ॥

निर्वैरी निष्कामता, स्वामी सेती नेह।
विषया सो न्यारा रहै, साधुन का मत येह ॥ १ ॥

बन बन तो चन्दन नहीं, दल दल सूरा नाहिं।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग माहिं ॥ २ ॥

स्वांगी सब संसार है, साधू समझ अपार।
अलल पच्छि कोई एक है, पक्षी कोटि हजार ॥ ३ ॥

सन्त न छाड़ै सन्तता, कोटिक मिले असन्त ।
मलय भुवंगम बेधिया, शीतलता न तजन्त ॥ ४ ॥

अतिही शीतल क्या करे, दुर्जन पीछे लाग ।
मथे मथाये नीकले, चन्दन ही में आग ॥ ५ ॥

निर्वैरता निष्कामता ईश्वरभक्ति और विषयों का त्याग करना, यह सन्तों का मत है ॥ १ ॥ सब बन तो चन्दन नहीं, शूरा के दल नाहिं । यह पाठान्तर है, जैसे सब बन आदि में चन्दनादि नहीं होते, तैसे संसार में सर्वत्र साधु नहीं होते हैं ॥ २ ॥ स्वांगी (वेषधारी) संसार है, साधु का ज्ञान अपार है, पूर्ण तत्त्व को पहुँचा जीव कोई एक है, अन्य अनन्त है ॥ ३ ॥ असन्तों के मिलने से भी सन्त साधुता नहीं छोड़ते हैं, जैसे सर्प के बेधने से चन्दन शीतलता नहीं त्यागता है ॥ ४ ॥ यदि दुर्जन पीछे पड़ता है तो अति शीतल सन्त भी क्या करे, मथने पर चन्दन से भी अग्नि निकलती ही है ॥ ५ ॥

साधु हजारी कापड़ा, तामें मल न समाय ।
साकट काली कामली, भावै तहाँ बिछाय ॥ ६ ॥

हांसी खेल हराम है, जो जन राते राम ।
माया मन्दिर इस्तिरी, नहीं साधु का काम ॥ ७ ॥

भक्त भरोसे नाम के, निरखत ऊंची दृष्टि ।
तिन को काल न लागई, नाम गरीबी पृष्टि ॥ ८ ॥

दीन गरीबी दीनता, दुन्दर को अभिमान ।
दुन्दर दोजक जाहिगें, दीन गरीबी नाम ॥ ९ ॥

हजारी (बहुमूल्य सुन्दर सफेद) कपड़ा तुल्य साधु होता है, कि जिसमें मल समाता (प्रवेश करता-पचता) नहीं है, और जहां चाहो तहां बिछाने योग्य काली कामली तुल्य असाधु होता है ॥ ६ ॥ नाम के प्रेमी

जन के लिये हांसी खेल भी हराम (निषिद्ध) है, और माया (द्रव्य) मन्दिर स्त्री से भी साधु को जरूरत नहीं है ॥ ७ ॥ भक्त भजन के बल सबको ऊंची दृष्टि (भगवान रूप) से देखता है, नाम और गरीबी (नम्रता) की पुष्टि (सम्बंध) से तिन भक्तों को काल का भी भय नहीं रहता है ॥ ८ ॥ उन दीनों (भक्तों) में गरीबी और दीनता (गुरु शास्त्रादि के अधीनता) रहती है, द्वन्द्ववालों में अभिमान रहता है, इससे द्वन्द्वी नरक में जायगें, और दीन (भक्त) गरीबी से नाम (राम) को प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

हरिजन[1] ऐसा चाहिये, जाको ज्ञान विवेक ।
बाहर मिलता सो मिलै, अन्तर सब सो एक ॥ १० ॥

साधू भँवरा जग कली, निशदिन रहै उदास ।
छिन इक तहां विलम्बई, शीतल शब्द निवास ॥ ११ ॥

सिंह साधु का एक मत, जीवत ही को खाय ।
भाव हीन मिरतक दशा, ताके निकट न जाय ॥ १२ ॥

जिसको ज्ञान और धर्मादि के विवेक है, उस हरिजन को ऐसा होना चाहिये कि बाहर व्यवहार मिलने वाला से मिले, सब से नहीं, और मन में सबसे एक भाव (प्रेम-सर्वत्र समात्म दृष्टि) रखे, किसी से भी द्वेष नहीं करे ॥ १० ॥ ऐसा साधु भँवरा तुल्य है, और जगत् कलि (अविकसित पुष्प) तुल्य है, इससे साधु जगत् से सदा उदास रहता है, तहां एक छन विलमता है कि जिस निवास स्थान में शीतल शब्द सुनता है ॥ ११ ॥ सिंह और साधु का मत एक होने से साधु जीवित का ही अन्न खाता है, भावादि रहित की मृतक दशा रहती है । इससे उसके पास में नहीं जाता है ॥ १२ ॥

---

१ साधू ऐसा चाहिये ॥ पा० ॥

जाति न पूछो साधु की, जो पूछो तो ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ १३ ॥

उडगन मीन सुधाकरा, वसत नीर की सन्ध।
यों साधू संसार में, कबीर परत न फन्द ॥ १४ ॥

कमल पत्र साधू जना, वसत जगत के माहिं।
बालक केरी धाय ज्यों, अपनो जानत नाहिं ॥ १५ ॥

साधु सिद्ध बड़ अन्तरा, जैसे आम बबूल।
बाकी डारी अमृत फल, बाकी डारी शूल ॥ १६ ॥

साधु से यदि पूछना हो तो ज्ञान पूछो, जाति नहीं, तरवार का दाम करो, म्यान को पड़ा रहने दो।' १३ ॥ मीन के समान उडगन और चन्द्रमा भी प्रतिविम्ब रूप से जल के समूह में वसते हैं, परन्तु व्याधा के फन्द में मीन तुल्य नहीं पड़ते, तैसे साधु भी संसार में रहते हैं परन्तु संसारी तुल्य संसार में नहीं पड़ते हैं ॥ १४ ।' क्योंकि साधुजन कमल पत्र की नाईं संसार में असंग होकर बसते हैं, और बालक की धाई के समान किसी को अपना नहीं मानते हैं ॥ १५ ॥ साधु और सिद्ध (अणिमादि सिद्धियुक्त देवादि) में बहुत अन्तर (भेद) है, जैसे कि आम और बबूल में है। एक में अमृत (स्वादु आम और मोक्ष) फल लगता है, और एक की डारी में शूल (कांटे और दुःख) फल लगा होता है ॥ १६ ॥

साधु साधु सबही बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर ॥ १७ ॥

साधु साधु सब एक हैं, ज्यों पोस्ता का खेत।
कोइ विवेकी लाल हैं, और सेत का सेत ॥ १८ ॥

रवि का तेज घटै नहीं, जो घन जुरै घमण्ड।
साधु बचन पलटै नहीं, पलटि जाय ब्रह्मण्ड ॥ १९ ॥

अपने योग्य साधन सम्पन्न साधु (सुन्दर) साधु (सज्जन) सब ही अपनी ठौर अवस्था में बड़े हैं, परन्तु सारासारादि शब्द के विवेकी और आत्मानुभवयुक्त पारखी माथे के मौर पूज्य हैं ॥ १७ ॥ सुन्दर सज्जन सब एक हैं, जैसे पोस्ता का खेत हो, परन्तु उनमें कोई विवेकी लाल (जीवन्मुक्त) हैं, और अन्य भी सेत के सेत (पवित्रों के पवित्र) हैं ॥ १८ ॥ जैसे मेघ को घमण्ड (घटा) जूड़ने से भी सूर्य का तेज नहीं घटता है, तैसे ब्रह्माण्ड के पलटने पर भी पवित्र साधु का वचन नहीं पलटता है, मिथ्या नहीं होता है ॥ १९ ॥

सिंहन के लेहड़ा नहीं, हंसों की नहिं पांत ।
लालन की बोरी नहीं, साधु न चले जमात ॥ २० ॥

साधू जन सब में रमैं, दुःख न काहू देहिं ।
अपने मत गाढा रहैं, साधुन का मत येहि ॥ २१ ॥

साधू ऐसा चाहिये, दुखे दुखावै नाहिं ।
पान फूल छेड़े नहीं, रहै बगीचा माहिं ॥ २२ ॥

तीन लोक उनमान में, चौथा अगम अगाध ।
पञ्चम दशा है अलख की, जानैगा कोइ साध ॥ २३ ॥

लेहड़ा (संघ-यूथ) पांत (पङ्क्ति) बोरी (थैली) सिंहादि के नहीं होते, तैसे जमात के जमात साधु नहीं होते हैं ॥ २० ॥ सब में रमने पर भी साधुजन किसी को दुःख नहीं देते, अपने सिद्धांत में दृढ़ रहते हैं, यही उनका मत है ॥ २१ ॥ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । भ० गी० १२।१६ इत्यादि वचनों के अनुसार साधु को ऐसा होना चाहिये कि न आप दुखे न दूसरे को दुखावे, और बाग में रह कर भी पत्र फूल फल को नहीं छूवे, संसार में असंग रहे ॥ २२ ॥ शुभ इच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, ये तीन अवस्था रूप लोक उनमान (कल्पना के विषय परिमित) है, सत्त्वापत्ति चौथी अवस्था अगम अगाध है, और पञ्चम (असंसक्ति)

दशा (अवस्था) अलख (अदृश्यत्म स्थिति) की है । तिस को कोई अभ्यासी ज्ञानी साधु ही जानेगा । इसी प्रकार व्यष्टि त्रिगुण से परे समष्टि ईश्वर की दशा अगम अगाध है, शुद्ध ब्रह्म की पंचम दशा है। तथा तीन लोक से परे जन लोकादि हैं, सब लोक से परे त्रिपादामृत है ॥ २३ ॥

जौन भाव ऊपर रहै, भीतर बसवै सोय।
भीतर और न वसवई, ऊपर और न होय ॥ २४ ॥

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारी सो नेह।
कहैं कबिर ता साधु की, हम चरणन की खेह ॥ २५ ॥

बहता पानी निर्मला, बन्धा गन्दा होय।
साधू जन रमता भला, दाग न लागै कोय ॥ २६ ॥

बंधा पानी निर्मला, जो टुक गहिरा होय।
साधू जन बैठा भला, जो कछु साधन होय ॥ २७ ॥

इसलिये साधु को चाहिये कि जिस साधु भावसे ऊपर रहे, उसीको भीतर भी बसावै (स्थिर करे) और भीतर में और भाव (भेदभाव रागद्वेषादि) कभी नहीं बसावे, न ऊपर और भाववाला हो ॥ २४ ॥ दाम (द्रव्य) ॥२५॥ गन्दा (मलीन), दाग (दोष) ॥ २६ ॥ यदि टुक (कुछ) गहीर होय तो बंधा (प्रवाह रहित) भी जल जैसे निर्मल रहता है, तैसे बैठा भी साधुजन निर्दोष रहते हैं, यदि कुछ साधन (अभ्यास बिचारादि) होय ॥ २७ ॥

इति साधु का अंग ॥

अथ देखादेखी का अंग ॥ ४२ ॥

देखादेखी भक्ति का, कबहि चढै ना रंग।
विपति पड़े यों छाडसी, ज्यों काचुली भुवंग ॥ १ ॥

यों[1] मन दीजै साधु को, जो सत सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय[2] ॥ २ ॥

करिये तो करि जानिये, सारीखा सो संग।
लीर[3] लीर जो हो गई, लोइ न छाडैं रंग ॥ ३ ॥

पाहन ठीकि न तौलिये, हाड न लीजै वेह।
माया राते मानवा, तिन सो कैसा नेह ॥ ४ ॥

कबीर तासो प्रीति करु, जो निरवाहै ओर।
बनिता विधिना राचिया, देखत लागै खोर ॥ ५ ॥

रंग (दृढ़ प्रेम) कभी नहीं चित्त में चढ़ता (जमता) है। इससे विपत्ति में छोड़ देता है ॥ १ ॥ यदि सच्चा सेवक (भक्त) होकर यों (इस प्रकार-देखादेखी) भी साधु के प्रति अपने मन को दिया जाय, तो सत्संग से ऐसा दृढ़ होता है कि सिर पर आरा सहता है, तो भी दूजा भाव नहीं होता है ॥ २ ॥ इसलिये यदि भक्ति करिये तो सारीखा (तुल्य) सत्संगी से संग करके भक्ति को समझो, फिर वह ऐसी होगी कि जैसे लोई लीर २ (टूक २) हो गई, तो भी रंग नहीं छोड़ती है ॥ ३ ॥ जैसे पाहन को ठीक रीति से जान लेने पर फिर नहीं तौलते हैं, हाड वेसाह (खरीद) कर नहीं लेते, तैसे माया में आसक्त मनुष्य के साथ भी प्रेम कैसा ॥ ४ ॥ उससे प्रीति करो जो अन्त तक निवाहे, विधि के अधीन जो बनिता (स्त्री) से प्रेम किया है, सो तो देखने में भी दोषरूप लगता (भासता) है ॥ ५ ॥

देखादेखी पकरिया, गया छनक में छूट।
कोइ बिरला जन ठहरई, सतगुरु स्वामी मूठ ॥ ६ ॥

ज्ञान सँपूरण ना बिधा, हृदया नाहि जुडाय।
देखादेखी भक्ति का, रंग नही ठहराय ॥ ७ ॥

१ यह मन। २ सोय। ३ झिरि झिरी जिमि लोई भई, तऊ न। पा०

काजल केरी कोठरी, ऐसा यह संसार।
बलिहारी उस साधु की, निकसे पैसनिहार॥ ८ ॥
साधु कहावन कठिन है, आगे की सुधि नाहिं।
सूली ऊपर खेलना, गिरै त ठाहर नाहि ॥ ९ ॥

जो सत्संग प्रेम विना भक्ति मार्ग को देखादेखी से पकड़ा, उसको छन भर में मार्ग छूट गया, उसमें कोई विरला जन ठहरता है कि जिसको सद्गुरु स्वामी का मूठ (अवलम्ब) रहता है ॥ ६ ॥ जैसे सम्पूर्ण ज्ञान नहीं वेघने से हृदय में शान्ति नहीं होती, तैसे देखादेखी भक्ति का रंग भी नहीं ठहरता है ॥ ७ ॥ काजर की कोठरी तुल्य यह संसार है, इसमें जो निहार (देख) कर निकलने पैसने (पैठने) वाले सन्त हैं, उन साधुओं की बलिहारी है ॥ ८ ॥ इस प्रकार की आगे की सुधि नहीं रहते साधु कहाना कठिन है। क्योंकि सूली के ऊपर खेलने के समान यह है, गिरने पर फिर कहीं ठिकाना नहीं है ॥ ९ ॥

शूली ऊपर घर करै, विष का करै अहार।
ताका यम भी क्या करै, आठ पहर हुसियार ॥ १० ॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यों खांडे की धार।
डगमगाय तो गिरि परै, निश्चल उतरै पार ॥ ११ ॥
साधु कहावन कठिन है, लम्बी पेड़ खजूर।
चढै त चाखै प्रेम रस, गिरै त चकना चूर ॥ १२ ॥

अभिमान रागादि के नाशक विवेक विराग संतोषादि रूप शूली पर घर (स्थिति) करे, और अविद्यामय देह का नाशक ज्ञान रूप विष का आहार करे, तो सदा सावधान रहने वाला उस साधु को यम भी क्या कर सकता है ॥ १० ॥ परन्तु तरवार के धार पर चलनेवाला के समान ऐसा साधु कहाना कठिन है, डगमगाने वाला गिरता है ॥ ११ ॥ लम्बी खजूर के पेड़ तुल्य ज्ञान मार्ग के साधु कहाना कठिन है ॥ १२ ॥

इति देखादेखी का अंग ॥

———

अथ साधुभूत का अंग ।। ४३ ।।

काजल ही की कोठरी, काजल ही का कोट ।
बलिहारी वा दास की, रहै नाम[1] की ओट ।। १ ।।

पांच बैल[2] इकफिरि करी, ऊजड़ ऊजड़ जाहि ।
बलिहारी वा दास की, पकडि जु राखै माहि ।। २ ।।

कबीर हरी का भावता, झीना पिंजर तासु ।
नैन[3] न आवै निन्दरी, अंग न [4]चढ़िया मांसु ।। ३ ।।

कबीर हरि का भावता, दूरहि देखि[5] हसन्त ।
तन झीना मन उनमुनी, जग से रूठ फिरन्त ।। ४ ।।

शरीरादि माया रूप काजर की कोठरी है, संसार लोक ब्रह्माण्ड काजर का कोट है, तहां नाम की ओट में रहने वाला भक्त की बलिहारी है ।। १ ।। पांचेन्द्रिय रूप बैल द्वारा एक जीव ने फेरी (व्यापार) किया, तहाँ पांचों ऊजाड़ २ में जाते हैं । इस में उस भक्त की बलिहारी है कि जो इन्हे पकड़ कर भीतर रखता है ।। २ ।। जो हरि का भावता (भक्त) है, उसके पिंजर (देह) झीना (कृश) रहता है और बुद्धि नेत्र में मोहनिद्रा नहीं आती है, न अंग में मांस चढ़ता है (देहाभिमान रहित रहता है) ।। ३ ।। हरि के भक्त दूसरे भक्त को दूर से ही देखकर हँसते (सुखी होते) हैं, तन सूक्ष्म रहता है, मन समाधिस्थ रहता है, और जगत से रूठ (स्नेह रहित) होकर फिरते हैं ।। ४ ।।

अनराते सुख सोवना, राते निन्द न आव ।
ज्यों जल टूटे माछली, तलफत रैन बिहाव ।। ५ ।।

कबीर जिन कछु जाणिया, सुख निन्दरी बिहाय ।
मेरे अबुझी बूझियाँ, परी परी बिललाय ।। ६ ।।

---

१ राम २ कबिरा पांच बलधिया ३ रेन ४ तनकी ५ दूरहि ते दीसन्त ।

जान भक्त का नित मरन, अनजाने का राज।
सर अवसर जानैं नहीं, पेट भरन सो काज ॥ ७ ॥

जा घट जान बिनान है, ता घट और न सूझ।
बिनु खांडे संग्राम है, नित उठि मन सो जूझ । ८ ॥

भक्ति भाव रहित को सुख से सोना बनता है, प्रेमी को निद्रा नहीं आती, जैसे जल के टूटने (घटने) से मछली तलफती हो, तैसे प्रेमी प्रिय बिना रात बिताता है ॥ ५ ॥ जो कोई कुछ समझा सो सुख निद्रा को त्याग कर ही समझा, परन्तु अबुझी (अविवेकी) जीव मेरे धनादि है ऐसा बूझिया (समझा) इससे उसकी देह बुद्धि परी २ व्याकुल होती है ॥ ६ ॥ जानकार भक्त का सदा ममतादि का त्याग रूप मरण होता है, अविवेकी को ममता में ही राज (सुख) है, क्योंकि वह सुन्दर अवसर को समझता नहीं है ॥ ७ ॥ जिस देह में जान (विवेक) बिनान (विचार-खोज) है, उस घट में और (अन्य व्यवहार) नहीं सूझता है। किंतु बिना तरवार के युद्ध है कि जिसमें नित दिन ऊठ कर मन से युद्ध करना होता है ॥ ८ ॥

राम वियोगी विकल तन, ताहि न चीन्है कोय।
तम्बोली का पान ज्यों, दिन दिन पीला होय ॥ ९ ॥

स्वारथ को सब काइ सगा, जगत सलाही जान।
बिनु स्वारथ आदरकरैं, हरि की प्रीति पहिचान ॥ १० ॥

मीठे मीठा सब मिला, कड़ुआ मिला न कोय।
नीम पिये कफ जात है, खाड़ पिये कफ होय ॥ ११ ॥

फाटे दीदे मैं फिरूं, नजरि न आवे कोय।
जा घट मेरा साइयां, सो क्यों छाना होय ॥ १२ ॥

सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होय ॥ १३ ॥

राम के वियोगी (खोजो जिज्ञासु) के तन विकल रहता है ॥ ९ ॥ सांसारिक स्वार्थ के सब सगा (सम्बंधी) हैं, सब संसार ही उस में सलाही (सलाह-सम्मति देनेवाला) है, ऐसा समझो, और बिना स्वार्थ के जिज्ञासु भक्तादि का आदर करै, सो हरि की ही प्रीति समझो, हरि कृपा बिना शिष्य को पहचाननेवाले सद्गुरु आदि की प्राप्ति नहीं होती है ॥ १० ॥ मीठा (विषयी विषय) से सब मिला. कडुआ (विराग संतोषादि) नीम (बिरागादि) कफ (कष्ट) खांड़ (विषय) ॥ ११ ॥ फाटे दीदे (आंख खोले) छाना (छिपा) ॥ १२ ॥ सेज (हृदय) ॥ १३ ॥

कबीर[1] सब जग लेटिया, जागत नाहीं कोय।
कै जागै विषया भरा, दास बन्दगी होय ॥ १४ ॥

दावै दाझन होत है, निर्दावै निःशंक।
जो जन निर्दावै रहा, कहां इन्द्र कहं रंक ॥ १५ ॥

निष्प्रेही निर्मल सदा, पकरै चारो खूंट।
कहैं कबिर वा दास की, आस करै बैकुण्ठ ॥ १६ ॥

राता राता सब कहै, बिनु[2] राता नहिं कोय।
राता सोई जानिये, जा तन रक्त न होय ॥ १७ ॥

राते रक्त न नीसरै, जों तन चीरै कोय।
जो राता हरि नाम से, ता तन रक्त न होय ॥ १८ ॥

सब संसारी लेटा (सोया) है, कोई जागता नहीं है कि जिससे स्वामी प्रकट हो। चाहे तो विषयों से भरा (विषयी) जागता है, या जो भक्त बन्दगी (भजन) में रहता है ॥ १४ ॥ तहाँ दावा (ममता) करनेवाला

१ कबिरा खालिक जागिया। २ अनराता। पा०

विषयी को दाझन (ताप) होता है, निर्दावा भक्त स्वामी से मिलकर निःशंक होता है, निर्दावे को इन्द्र रंक से भी क्या मतलब है ॥ १५ ॥ इच्छा रहित सदा निर्मल पुरुष चारों अंतःकरण सब देश को वश में करता है, इत्यादि ॥ १६ ॥ राता २ (प्रेमी २) सब कहता है, बिना प्रेम के नहीं कहता, परन्तु प्रेमी तब जानना कि जब तन में सांसारिक राग नहीं हो । १७॥ चीरै (विचार कर देखै) ॥ १८ ॥

जा घट में संशय बसै, ता घट राम न होय ।
राम सनेही दास बिच, तिना न संचर जोय ॥ १६ ॥

जो भाजौ तो भय नहीं, सनमुख रहा न जाय ।
सूता सिंह जगाय कर, जो छाडै तो खाय ॥ २० ॥

राम नाम जिन ऊचरा, छन छन बारम्बार ।
ते मुख भये जु ऊजले, कहैं कबीर विचार ॥ २१ ॥

राम नाम जिन चीन्हिया, झीने पंजर तासु ।
नैन न आवै निन्दरी, अंग न चढिया मांसु ॥ २२ ॥

राम के सनेही भक्त के बीच में तिन (संशय-रागादि) का संचार नहीं जोया (देखा) गया है । इससे सशय रहित में ही राम बसते हैं ॥१६॥ जो कोई संशय रागादि से भागे (रहित हो) तो निर्भय राम की प्राप्ति से उसे भय नहीं होता है सशयादि के सनमुख शांति से रहा नहीं जा सकता, क्योंकि सूता सिंह को जगा कर जो बश में नहीं रखेगा उसे खायगा । इसलिये संशय होने पर उसका निवारण करना चाहिये ॥ २० ॥ ऊजले (पवित्र) ॥ २१ ॥ झीने (कृश वशीभूत) पंजर (देह) ॥ २२ ॥

इति साधुभूत का अंग ॥

———

अथ साधु महिमा का अंग ॥ ४४ ॥

यह पुर पट्टन सुवस बस, आनन्द ठावैं ठाव ।
राम सनेही बाहिरा, ऊजर मेरे भाव ॥ १ ॥

जा घर साधु सेवा नहिं, पार[1] ब्रह्म पति नाहिं ।
ते घर मरघट सारिखा, भूत बसै ता ठाहिं ॥ २ ॥

हय वर गय वर सघन घन, छत्र ध्वजा फहराय ।
ता सुख से भिक्षुक भला, हरि सुमिरत दिन जाय ॥ ३ ॥

धन्य सो माता सुन्दरी, जाया साधू पूत ।
राम सुमरि निर्भय भया, अरु सब गया अऊत[2] ॥ ४ ॥

कबीर कुल सोई भला, जा कुल उपजै दास ।
जा कुल दास न उपजै, सो कुल ढाक पलास ॥ ५ ॥

राम नाम का परिचय साक्षी स्वरूप का अनुभव होने पर यह देहादि रूप पुर पट्टन सुन्दर वास युक्त बसता है, ठामे ठाम (सर्वत्र) आनंद होता है, और राम सनेही से बाहर (भिन्न) सो मेरे (मुझे) ऊजर (आनंद शून्य) भासता है ॥ १ ॥ पार ब्रह्म पति का ज्ञानादि नहीं है ॥ २ ॥ श्रेष्ठ घोड़ा, हाथी, सघन मेघ तुल्य छत्ता और ध्वजा फहराने का जो सुख है । उस सुख से भिक्षुक का सुख भला है कि जिसका भजन में दिन जाता है ॥ ३ ॥ जाया (जन्माया) अऊत (उपद्रव) ॥ ४ ॥ ढाक पलास तुल्य बे काम के ॥ ५ ॥

भली भई जो भय मिटा, टूटी कुल की लाज ।
बे परवाही ह्वै रहा, बैठा राम जहाज ॥ ६ ॥

हरि जी भये जु केतको, भँवर भये सब दास ।
जहँ जहँ भक्ति निर्मला, तहँ तहँ राम निवास ॥ ७ ॥

१ सतगुरु पूजा नहिं ॥ पा० २ अवत । पा० ॥ वृथा अर्थ है ।

एक एक सो आगरा, साधू जना अपार।
कबीर कुञ्जा प्रेम का, बोलें अमरित सार ॥ ८ ॥

सूते में बरराइ कर, जोरि कहैगा राम।
ताका पग को पानही, मेरे तन का चाम ॥ ९ ॥

राम कहत कुष्टी भला, चुइ चुइ पडै जु चाम।
कञ्चन तन किस कामकी, जा मुख नाहीं राम ॥ १० ॥

भक्ति रहित कुलादि का भय मिटा, कुल की लाज टूटी सो भली बात भई। इसी से अब राम जहाज पर बैठकर वे परवाही (चिंता रहित) हो रहा हूँ ॥ ६ ॥ हरिजी केतकी हुए हैं, और सब भक्त भँवर हुये हैं, जहाँ २ निर्मल भक्ति होती है, तहाँ राम स्वयं निवास करते हैं ॥ ७ ॥ साधु जन एक से एक आगर (सुन्दर) होते हैं, और प्रेम के कुञ्ज पक्षी होकर सार अमृत बोलते हैं ॥ ८ ॥ सूते में भी बरराय कर जो राम कहेगा, उसको पग के जूता योग्य मेरे चाम हैं ॥ ९ ॥ चू २ कर जिसका चाम गिरता हो, ऐसा कुष्टि भी यदि राम कहता है, तो भला (पवित्र) है, कञ्चन तुल्य दीप्त शरीर भी बेकाम के है कि जिसके मुख से राम नहीं निकलता है ॥ १० ॥

साकट ब्राह्मण मति मिलो, साधु मिलै चण्डाल।
जाहि मिले सुख ऊपजे, मानो मिले दयाल ॥ ११ ॥

गहिरा चित्त समुद्र सा, गुणवन्ता मति धीर।
सो धोखै विचलै नहीं, ऐसो सन्त सुधीर ॥ १२ ॥

साध तो हीरा भया, ना फूटै घन खाय।
ना वह बिनशै कुम्भ ज्यों, न वह आवै जाय ॥ १३ ॥

हरि दरिया सभर भरा, साधू का घट सीप।
तामें मोती नीपजै, चढै देशावर दीप ॥ १४ ॥

साधुन की झुपडी भली, न साकट का गाम।
चन्दन की कुटकी भली, ना बबूल बनराव ॥१५॥

जिस के मिलने से ऐसा सुख हो कि मानो दयालु प्रभु मिले सो साधु चाण्डाल भले ही मिले, परन्तु शाक्तहिंसक ब्राह्मण नहीं मिले ॥११॥ जिस का समुद्र तुल्य गहिर चित्त है, गुणवान मतिमान सात्त्विक धैर्य युक्त जो सन्त है ऐसा सन्त अपने पद से धोखे में भी विचलित नहीं होता है ॥१२॥ क्योंकि वह साधु हीरा तुल्य हुआ है, बिपत्ति आदि घन के खाने पर भी फूटता नहीं है, अखण्डात्मस्वरूप से रहता है, यथा घडा के समान विनष्ट नहीं होता है न जन्म मरन के प्रवाह में पडता है ।।१३।। हरि मानो सुन्दर भरा समुद्र हैं, तहाँ साधु का घट सीप है, जिस में मोक्ष रूप मोती सिद्ध होकर सब देश द्वीप में चढता है ॥१४॥ बन राव (बड़ा जंगल) ॥१५॥

हय वर गय वर [1]सघन घन, छत्रपती की नारि।
तासु पटतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ १६ ॥

यों नृप नारी निन्दिये, पनिहारी को मान।
मांग समारै पीव को, नित वह सुमिरै राम ॥ १७ ॥

साधु अथाई छाडिके, स्वामिन चले लबाइ।
झूठे सो झूठा मिला, झूठाही फल खाइ ॥ १८ ॥

सतगुरु ऊपर बारिये, मैं बन्दा बल हीन।
चन्दन पास पलास था, सो भी चन्दन कीन ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ घोड़ा वर गयन्द (हाथी) वाला सघन मेघ तुल्य छत्रधारी राजा की स्त्री उसके तुल्य नहीं हो सकती, जो कि हरिजन की पनिहारी है ।।१६।। इस प्रकार नृप की स्त्री को निन्दिये, और पनिहारी को मान दीजिये, क्योंकि रानी पति के लिये मांग समारती है, और वह पनिहारी सदा राम

१ सुघर बर ॥ पा०

स्मरती है ॥१९॥ जो कोई साधु अथाई (स्थान) को छोडकर स्वामिन को ले चले सो झूठे से झूठा मिल कर झूठा ही फल पाते हैं ॥१८॥ मैं बलहीन बन्दा (दास) हूँ ऐसा समझकर सतगुरु के ऊपर आत्मार्पण करो, तो चन्दन के पास का पलास को जैसे चन्दन निज रूप किया, तैसे सद्गुरु अपना रूप करेगें ॥१६॥

समधी का आदर करै, सन्त बटाऊ जान।
तिन को कैसे होयगी, साहब से पहिचान ॥ २० ॥

साधु बडे परमारथी, घन ज्यों वरषै आय।
तपत[1] बुझावै और का, अपनो पारस लाय ॥ २१ ॥

साधु वृक्ष हरि नाम फल, शीतल स्वाद विचार।
जग में साधू होत नहि, जल मरता संसार ॥ २२ ॥

तरुवर कवहु न फल भखैं, नदी न अँवचै[2] नीर।
परमारथ के कारणे, साधुन धरा शरीर ॥ २३ ॥
साधु नदी जल प्रेम रस, तहां प्रछाले अंग।
कहैं कबिर निर्मल भया, [3]हरि भक्तन के संग ॥ २४ ॥

बटाऊ (पथिक) साहब से पहिचान (साहब ईश्वर का ज्ञान) ॥२०॥ मेघ के समान साधु ज्ञान धर्मादि की वर्षा आकर करते हैं। और अपना पारस (ज्ञानादि) की प्राप्ति कराकर अन्य के ताप (दुःख शोक) को शान्त करते हैं ॥२१॥ साधुरूप वृक्ष में हरिनाम रूप फल लगता है, जिसका विचार ही शीतल स्वाद है, ऐसे साधु जगत में नहीं होते तो सब जल मरते ॥२२॥ जैसे वृक्ष नहीं खाता, नदी नीर नहीं पीती है, किन्तु फलादि परमार्थ के लिये होते हैं, तैसे साधु जन परमार्थ के लिये शरीर धरते हैं ॥२३॥ साधु रूप नदी में प्रेमरस जल है, वहाँ अंग धोना चाहिये, क्योंकि हरि भक्तों का संग किया सो निर्मल भया ॥२४॥

१ तपन। २ संचय। ३ साधू जन के। पा० ॥

साधु मिले तो हरि मिले, अन्तर रही न रेख ।
राम[1] दोहाई सच कहों, साधू आप अलेख ॥ २५ ॥

साधू आवत देखि के, चरणों लागो धाय ।
क्या जानो यह[2] भेष में, साहब[3] ही मिलि जाय ॥२६॥

साधू आवत देखि कर, हंसी हमारी देह ।
माथे का ग्रह ऊतरी, नैनन बढ़ा सनेह ॥ २७ ॥

साधू आवत देखि के, मन में करै मरोर ।
सो तो होसी चूहडा, बसै गाम की ओर ॥ २८ ॥

साधू आवत देखि के, दीठा करै अदीठ ।
चाबुक तोडै चौहटे, गुनहगार की पीठ ॥ २९ ॥

साधु मिलन से हरि मिलन में रेख मात्र का भी भेद नहीं रहता है, राम की दोहाई पूर्वक सच्ची बात कहता हूँ कि साधु आप स्वयं अलेख ब्रह्म स्वरूप है ॥ २५ ॥ इस साधु के वेष में साहब ही मिल जाय इसका क्या पता है ॥ २६ ॥ देह हंसी (सुखी हुई) ग्रह (अभिमानादि) ॥२७॥ मरोर (चिन्ता दुःख) चुहडा (चोर चांडाल) ओर (अन्त में) ॥ २८ ॥ दीठा (देखा हुआ, दृष्टि) अदीठ (अज्ञात अदर्शन) आँख से देखना नहीं चाहता, उस गुनहगार (अपराधी) के पीठ पर चौहटे में यमदूत चाबुक तोडता है ॥ २९ ॥

आवत साधु न हरषिया, जात न दीया रोय ।
कहैं कबिर वा दास की, मुक्ति कहां ते होय ॥ ३० ॥

निराकार की आरसी, साधुन ही की देह ।
लखा जु चाहै अलख को, इनही में लखि लेह ॥ ३१ ॥

साधु हमारे आतमा, हम सन्तन के जीव ।
साधुन मध्ये यों रहौं, ज्यों पय मध्ये घीव ॥ ३२ ॥

[1] मनसा वाचा कर्मणा, साधू साहब एक । [2] इस किस । [3] हरि आपहि ॥५१०॥

[1]घीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।
कथता बकता बहु मिले, मथि काढै कोइ और ॥ ३३ ॥

हरि दरबारी साधु हैं, इन ते सब कुछ होय।
वेगि मिलावैं राम को, इन्हे मिले जो कोय ॥ ३४ ॥

सन्तों में पर प्रेम का चिन्ह दर्शनादि से हर्षादि के बिना मुक्ति की संभावना कैसे हो ॥ ३० ॥ निराकार निर्गुण राम के दर्शन के लिये आरसी (दर्पन) साधुओं की देह है ॥ ३१ ॥ हमारे (सद्गुरु सर्वात्मा राम के) साधु आत्मा हैं, हम सन्तन के जीव (प्राण आत्मा) है इससे पय में घीव के समान हम संतों में रमे रहते हैं ॥ ३२ ॥ कहने बकने वाले को घीव नहीं मिलता किंतु मथने वाले को मिलता है तैसे भजन विचारादि वाले को राम मिलता है ॥ ३३ ॥ हरि के दरबार में रहने वाले जो साधु हैं, उनसे विचारादि सब कुछ होता है, और जो कोई इन्हें मिलता है, उसे शीघ्र राम से मिलाते हैं ॥ ३४ ॥

गिरही सेवै साधु को, साधू सुमिरै राम।
यामें धोखा कछु नहीं, सरे दोउ का काम ॥ ३५ ॥

साधू[2] भूखे भाव के, भोजन भूखे नाहि।
भोजन भूखे जो फिरै, सो तो साधू नाहि ॥ ३६ ॥

बिनु रितु के तरुवर फिरै, शिला द्रवै जल जोर।
कहैं कबिर सत्संग में, जो चित निबहै ओर ॥ ३७ ॥

कबीर दर्शन साधु के, बडे भाग दरशाय।
जो होवै शूली सजा, कांटे ही टरि जाय। ३८ ॥

गिरही (गृहस्थ) विरक्त साधु को सेवे, और साधु स्मरण भजन करे, तो इसमें कुछ धोखा नहीं होय, दोनों का काम सिद्ध होय ॥ ३५ ॥ भाव

१ ज्यों पय मध्ये घीव हैं, त्यों रमिया सब ठौर। पा० ॥
२ साधु भूखा भाव का, धन का भूखा नाहि। धन का भूखा जो फिरे। पा० ॥

(प्रेम भक्ति) भोजन (अन्न) । भोजन के स्थान में धन के पाठान्तर धन अन्न के इच्छुक साधु नहीं है ॥ ३६ ॥ क्योंकि संतों की महीमा से बिना ऋतु के वृक्ष में फल लग सकता है, शिला में से जल का जोर (धारा) निकल कर बह सकता है, यदि सत्संग भजन में ओर (आरंभसे) चित्त निबहे (स्थिर रहे) तो फिर साधु को धनादि की चिंता कैसी ॥ ३७ ॥ साधु का दर्शन बड़े भाग्य से मिलता है, तथा सूली सजा का अपराध हो तो साधु दर्शन से कांटे लग कर वह अपराध टर (मिट) जाता है ॥ ३८ ॥

साधु दया साहब मिलै, उपजै परमानन्द ।
कोटि विघ्न पल में कटै, मिटै सकल दुख द्वन्द्व ॥ ३६ ॥
वेद [1]कथत ब्रह्मा थके, थके जु शेष महेश ।
गीता हूँ की गम नहीं, सन्त किया परवेश ॥ ४० ॥

[2]सुख देना दुख मेटना, छिमा [3]करन अपराध ।
कहैं कबिर वह कब मिलै, परम सनेही साध ॥ ४१ ॥
तीरथ [4]न्हाये एक फल, साधु मिले फल चार ।
सतगुरु मिले अनेक फल, कहैं कबीर बिचार ॥ ४२ ॥

साधु सिद्ध बहु अन्तरा, साधु मता परचंड ।
सिद्ध जु तारै आपको, साधु तारु नव खंड ॥ ४३ ॥

साधु सीप साहब समुँद, निपजत मोति माहिं ।
वस्तु ठिकाने पाइये, नाल खाल में नाहिं ॥ ४४ ॥

साधु की दया से ईश्वर की प्राप्ति होती है, परमानंद होता है, करोड़ों विघ्न (पाप) पल भर में कटता है । सब दुःख द्वन्द्व मिटता है ॥ ३६ ॥ वेद को कथते में ब्रह्मा शेष महेशादि थके, परन्तु वाणी का विषय जिसको नहीं कर सके और वाणी का अविषय होने ही से जहाँ गीता की भी गति

---

१ थके । २ सुख देवे दुख को हरे ॥ ३ करे । पा० ॥ ४ जाये । पा० ॥

नहीं है, तहां सन्त प्रवेश किया और करते हैं ॥४०॥ सुख दाता दुःख हर्ता अपराधों के क्षमा कर्ता परम प्रेमी सन्त भाग्य विना कब मिलते हैं। "सुख देवैं दुख को हरैं, दूर करै अपराध" यह पाठान्तर है ॥४१॥ एक फल (पुण्य-स्वर्ग) चार (अर्थ, धर्म, काम और सगुण मोक्ष) ये साधु के मिलने से मिलते हैं, और सद्गुरु के मिलने से अनेक (साधन सहित ज्ञान निर्गुण मुक्ति) फल मिलता है ॥४२॥ प्रचण्ड (परम प्रबल) साधु का मत है। नव खंड (नवों खंड के मुमुक्षु को) ॥४३॥ सर्वात्मा साहब समुद्र है, तिस में साधु रूप सीप बसता है, जिस माहिं (अंदर) में ज्ञान विज्ञान मोक्ष रूप मोती सिद्ध होती है इसलिये वह मोती रूप वस्तु साधु स्वरूप ठिकाने में ही पा सकते हैं, लोकादि रूप नाले और खाले (गड़हे) में नहीं पा सकते हैं ॥४४॥

कबीर दर्शन साधु का, करत न कीजै कानि।
ज्यों उद्यम से लक्ष्मि है, आलस मन[1] से हानि ॥ ४५ ॥

दरशन कीजै साधु का, दिन में कइ कइ बार।
आसोजा का मेह ज्यों, बहुत करै उपकार ॥ ४६ ॥

कई बार नहिं करि सकै, दोय बखत करि लेय।
कबीर साधू दरश ते, काल दगा नहिं देय ॥ ४७ ॥

दोय बखत नहिं करि सकै, दिन में करु इक बार।
कबीर साधू दरश ते, उतरै भव जल पार ॥ ४८ ॥

एक दिना नहिं करि सकै, दूजै दिन करि लेह।
कबीर साधू दरस ते, पावैं उत्तम देह ॥ ४९ ॥

दूजे दिन नहि करि सकै, तीजै दिन करु जाय।
कबीर साधू दरश ते, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥ ५० ॥

---

१ में नित हानि । पा० ॥

तीजे चौथे नहि करै, बार बार करु जाय ।
यामें विलँब न कीजिये, कहैं कबिर समुझाय ॥ ५१ ॥

साधु दर्शन करने में कानि (अहंकार) नहीं करो, तथा आलस नहीं करो, क्योंकि जैसे उद्यम से लक्ष्मी होती है तैसे मन में आलस से हानि होती है, सो समझो ॥ ४५ ॥ आसोजा (आश्विन) के मेघ के समान प्रतिदिन के दर्शन से बहुत उपकार होता है ॥ ४६ ॥ मोक्ष मुक्ति (ज्ञान की प्राप्ति से मोक्ष की इच्छा निवृत्ति) रूप फल पाता है ॥ ४७ से ५० ॥ बार बार (आठवें दिन) ॥ ५१ ॥

बार बार नहि करिसकै, पाख पाख करि लेय ।
कहैं कबिर सो भक्त जन, जनम सुफल करि लेय ॥ ५२ ॥

पाख पाख नहिं करि सकै, मास मास करु जाय ।
यामें देर न लाइये, कहैं कबिर समुझाय ॥ ५३ ॥

मास मास नहि करि सकै, छठे मास अलबत्त ।
यामें ढील न कीजिये, कहैं कबिर अबिगत्त ॥ ५४ ॥

छठै मास नहि करि सकै, बरस दिना करि लेय ।
कहैं कबिर सो भक्त जन, यमहि चुनौती देय ॥ ५५ ॥

बरस बरस नहि करि सकैं, ताको लागै दोष ।
कहैं कबिर वा जीव सो, कबहुँ न पावै मोख ॥ ५६ ॥

मात पिता सुत इस्तिरी, आलस बन्धू कानि ।
साधु दरश को जब चले, ये अटकावै आनि ॥ ५७ ॥

इन अटकाया ना रहै, साधु दरश को जाय ।
कबीर सोई सन्त जन, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥ ५८ ॥

पाख २ (पक्ष २) पर दर्शन कर लो ॥५२, ५३॥ अलबत्त (अवश्य या हो सके तो) अविगत्त (मुक्त) ॥ ५४ ॥ चुनौती (फटकार) ॥ ५५ ॥

मोख (मोक्ष) ।। ५६ ।। इस्तिरी (स्त्री) आलस्य, भाई, कानि (लोकलाज-मर्यादा) ये सब आकर अटकाते (रोकते) हैं ।। ५७ ।। मोक्ष मुक्ति (मुक्त होने से सर्वथा निस्पृहता) फल पाता है ।। ५८ ।।

निराकार निजरूप है, प्रेम प्रीति सो सेव ।
जो चाहै आकार को, साधू परतछ देव ।। ५९ ।।

साधु मिलैं यह सब टलै, काल जाल यम चोट ।
शीस नमावत ढहि पडै, सब पापन के पोट ।। ६० ।।

साधुन के मैं संग हूँ, अन्त कहूं नहिं जाँव ।
जो मोहि अरपै प्रीति सो, साधुन मुख ह्वै खांव ।। ६१ ।।

छाजन भोजन प्रीति सो, दीजै साधु बुलाय ।
जीवत यश है जगत में, अन्त परम पद पाय ।। ६२ ।।

सरवर तरुवर सन्त जन, चौथा बरषै मेह ।
परमारथ के कारने, चारौ धारी देह ।। ६३ ।।

कहँ अकाश को फेर है, कहँ धरती का तोल ।
कहां साधु की जाति है, कहँ पारस का मोल ।। ६४ ।।

हरि सो तू मति हेत कर, कर हरिजन सो हेत ।
माल मुल्क हरि देत हैं, हरिजन हरि हि देत ।। ६५ ।।

निज रूप (राम) प्रेम प्रीति (प्रेम भक्ति) प्रत्यक्ष देव (सेव्य राम) ।।५९।। साधु के मिलने से काल का जाल (समूह वा बन्धन) यमयातना, ये सब मिटते हैं, और शिर झुकाने से सब पापों के पोट (गठरी) नष्ट होता है ।।६०।। मैं ईश्वर साधुओं के संग में रहता हूँ ।।६१।। छाजन (वस्त्र) ।। ६२ ।। फेर (भेदादि) ।। ६३, ६४ ।। हेत (प्रेम) माल (धन) मुल्क (संसार राज्यादि) ।। ६५ ।।

यही बडाई सन्त की, करनी देखो आय।
रज हूँ ते झीना रहै, लौलिन ह्वै गुण गाय ॥ ६६ ॥

परमेश्वर ते सन्त बड, ताका कहँ उनमान।
हरि माया आगे धरैं, सन्त रहैं निर्वान ॥ ६७ ॥

जा सुख को मुनिवर रटै, सुर नर करै विलाप।
सो सुख सहजे पाइया, सन्तों संगति आप ॥ ६८ ॥

कबीर शीतल जल नहीं, हीम न शीतल होय।
शीतल हैं इक सन्त जन, नाम सनेही सोय ॥ ६९ ॥

सद कृपालु दुख परिहरन, बैर भाव नहिं दोय।
छिमा ज्ञान सत भाख ही, हिंसा रहित जु होय ॥ ७० ॥

सुख दुख एक समान है, हरष शोक नहि व्याप।
उपकारी निष्कामता, उपजै छोह न ताप ॥ ७१ ॥

सदा रहै सन्तोष में, धर्म आप दृढ़ धार।
आस एक गुरुदेव की, और न चित्त विचार ॥ ७२ ॥

सन्त की यह बडाई और करनी आकर देखो कि रज से भी झीना रहकर लव लीन होकर गुण गाते हैं ॥६६॥ परमेश्वर से भी बड़ा सन्त का उनमान (मांप) कहां हो सकता है, और बड़ापन में प्रमाण यह है कि हरि माया को आगे (मान्य) रखते हैं, और सन्त निर्वान (मुक्त) रहते हैं ॥६७॥ सदा कृपालु, दुःख नाशक, वैर भाव और द्वैत भाव से रहित क्षमा आदि युक्त अहिंसक सत्यवक्ता सन्त होते हैं ॥६८ से ७०॥ छोह (क्षोभ) ताप (दुःख) सन्त को नहीं होता है ॥ ७१ ॥ गुरु देव से और (अन्य) का विचार चित्त से नहीं करते हैं ॥ ७२ ॥

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित गात।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरज दया बसात ॥ ७३ ॥

शीलवन्त दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावत अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ ७४ ॥

इन्द्रिय मननिग्रह करन, हृदया कोमल होय।
सदा शुद्ध आचार में, रह विचार में सोय ।। ७५ ॥

और देव नहिं चित बसै, मन गुरु चरन बसाय।
अल्पाहार भोजन करै, तृष्णा दूर पराय ॥ ७६ ॥

और देव नहि चित बसै, बिनु प्रतीति भगवान।
मिलाहार भोजन करै, तृष्णा चलै न जान ॥ ७७ ॥
षड़ विकार यह देह के, तिनको चित्त न लाय।
शोक मोह प्यास हि क्षुधा, जरा मृत्यु नशि जाय ॥ ७८ ॥

गम्भीर मन (विचार) से धैर्य और दया को बसाते (रखते) हैं ॥ ७३ ॥ अल्प अन्न के भोजन करते हैं, उसीसे उनकी तृष्णा दूर भागती है ॥७४ से ७६॥ भगवान् (सर्वात्मा ईश्वर) के सिवा अन्य देव सन्त के चित्त में नहीं बसते हैं, अनायास प्राप्त अन्न का भोजन करते हैं, और तृष्णा से चलना भी नहीं जानते हैं ॥७७॥ और (क्षुधापिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ। जन्ममृत्यू शरीरस्य षड्भिर्मिरहितः शिवः।) इत्यादि वचन के अनुसार शोकादि छौ विकार को स्थूल सूक्ष्म देह के धर्म जान कर उनमें चित्त नहीं लगाते हैं। जिससे सब विकार नष्ट हो जाते हैं ॥ ७८ ॥

कपट कुटिलता छाडि के, सब सो मित्र हि भाव ॥
कृपावान् सम ज्ञानवत, वैर भाव नहिं काव ॥ ७९ ॥

कपट कुटिलता दुरबचन, त्यागी सब सो हेत।
कृपावन्त आशा रहित, गुरु भक्ति सिख देत ॥ ८० ॥

कोई आवै भाव ले, कोइ अभाव ले आव।
साधु दोउ को पोषते, भाव न गिनै अभाव ॥ ८१ ॥

रक्त छाड़ि पय को गहै, जैसे गौ का बच्छ।
अवगुण छाडै गुण गहै, ऐसा साधू लच्छ॥ ८२॥

टूटै बरत आकाश सो, कौन सकत है झेल।
साधु सती और शूर का, अनि ऊपर का खेल॥ ८३॥

ऐसा साधू खोजि के, रहिये चरणो लाग।
मिटै जन्म की कल्पना, जाके पूरण भाग॥ ८४॥

ऊंडा चित्त रु सम दशा, साधू गुण गम्भीर।
जो धोखा विचलै नहीं, सोई सन्त सुधीर॥ ८५॥

कपट (माया-छल) कुटिलता (टेढापन) सम (एकरस समता) ॥७६॥ हेत (प्रेम) सिख (शिक्षा-उपदेश) ॥८०॥ भाव (प्रेम-आदर) ॥८१॥ आकाश से बांस का बरत (नट का खेल की रस्सी) यदि टूटे तो उसे झेलने (थामने-रोकने) वाला कौन हो सकता है, कोई नहीं होता है तैसे साधु सती और शूर का खेल (व्यवहार) मानो अनि (भाला के नोक) पर का है, इसे अन्य कोई नहीं कर सकता है॥ ८२, ८३॥ जन्मादि की कल्पना (शंका) जिसकी मिट जाय उस के पूर्ण भाग्य हो ॥ ८४॥ ऊंडा (गहिरा-धैर्य युक्त) समदशा (समभाव) वाला जो धोखा (अनवधानता) से निज स्वभाव से विचलित नहीं होता है, सोई गंभीर गुणवाला साधु सुधीर सन्त है॥ ८५॥

साधू आया पाहुना, मांगै चार रतन्न।
धूनी पानी साथरा, शरधा सेती अन्न॥ ८६॥

साधू खोजा राम के, धसे जु महलन माहिं।
औरन को पडदा लगै, इन को पडदा नाहिं॥ ८७॥

साधुन की कुतिया भली, बुरि सांकट की माय।
वह बैठी हरि यश सुनै, वह निन्दा को जाय॥ ८८॥

साधु समुन्दर जानिये, मांही रतन भराय।
मन्द भाग मूठी भरै, कर कंकर चढि जाय ॥ ८९ ॥

उक्त साधु यदि पाहुना आया तो, धूनी, पानी, साथरा (बिछौना) और श्रद्धा से अर्पित अन्न ये ही चार रत्न मानो माँगता है, अन्य रत्नादि नहीं चाहता है ॥८६॥ वह साधु मानो राम के खोजा (काम विकार रहित जन) है, तिससे सब के महलों में बसता (पैठता) है, तथा पाँच कोश के अन्दर निज स्वरूप में जाता है, क्योंकि अन्य के लिये लौकिक तथा अविद्या-जन्य परदा लगती है, इन्हें नहीं लगती है ॥ ८७ ॥ ऐसे साधु की कुतिया भी भली है, और उससे बुरी साँकट की माय है, क्योंकि वह कुतिया भी बैठकर हरि यश सुनती है, और साँकट की माय निन्दा के लिये जाती है ॥८८॥ उस साधु के अन्दर ज्ञानादि रत्न भरे हैं, परन्तु मन्द भाग्य यदि मन मुठी में भरता है तो अवगुणादि रूप कंकर ही उसके कर (हाथ-मन) में चढ (आय) जाता है ॥८९॥

हरि से तो हरिजन बड़े, समुझि देखु मन माँहि।
कबिरा सब जग हरि विषे, सो हरि हरि जन माँहि ॥ ९० ॥

सन्त बड़े संसार में, हरि ते अधिका सोय।
बिनु इच्छा पूरण करै, साधू साहिब होय ॥ ९१ ॥

नीलकंठ कीडा भखै, मुख वाके है राम।
अवगुण वाको लगै नहिं, दर्शन ही सो काम ॥ ९२ ॥

हरि से भी हरिजन साधु बड़े हैं, सो अपने मन में विचार कर देखो (जानो); क्योंकि हे कबीरा! (जीव) सब संसार हरि में कल्पित स्थिर है, और सो हरि हरिजन में प्रत्यक्ष वर्तमान हैं ॥९०॥ इसीसे संसार में सन्त बड़े हैं, और हरि से भी अधिक हैं, क्योंकि हरि तो कर्म वासनादि के अनु-सार फल देते हैं, सन्त लोग इच्छा बिना भी योग्य अधिकारी को पूर्णपद

(मोक्ष) की प्राप्ति कराते हैं। इस कार्य के लिये वे साधु साहब (प्रभु-समर्थ) होते हैं ।।९१।। जैसे नीलकंठ पक्षी कीड़ा खाता है, तो भी उसके मुख में राम के स्याम स्वरूप रहने से उसके अवगुण दर्शन कर्ता को नहीं लगता है किन्तु दर्शन से फल मिलता है, तैसे साधु के दर्शन कर्त्ता को फल मिलता है, साधु के अवगुण दर्शन कर्ता को नहीं लगता है ।।९२।।

काहू को नहिं निन्दिये, सब को कहिये सन्त ।
करनी अपनी ते तरैं, मिलि भजिये भगवन्त ।। ९३ ।।

अवैष्णव कोई नहीं, सबे वैष्णव हि जानि ।
जेता हरि को ना भजै, तेता ताको हानि ।। ९४ ।।

आप साधु करि देखिये, असाधु देखु न कोय ।
वाके हृदये हरि नहीं, हानि उसी को होय । ९५ ।।

किसी की निन्दा नहीं करो, सबको सन्त (सुवचन) कहो, सब अपनी करनी से तरता है इसलिये मिलकर भगवान को भजो, भजन करते हुए अन्य से भी भजन कराओ ।।९३।। किसी को अवैष्णव नहीं जानो, सबको वैष्णव (हरिभक्त) जानो, जो जितने काल तक हरि को नहीं भजता है, उतने काल तक उसको ही हानि है, तुम उसको अवैष्णव समझ कर निन्दा आदि से दोष का भागी क्यों बनते हो ।। ९४ ।। निन्दा आदि से बचने के लिये, आप साधु ही करके सबको देखो, किसी को असाधु नहीं देखो, यदि उसके हृदय में हरि भक्ति आदि नहीं हैं, तो उसी की हानि होती है, साधु समझने वाला को नहीं हानि है ।। ९५ ।।

साधु चलत रो दीजिये, कीजै अति सनमान ।
कहैं कबीर भेंट धरु, अपने वित अनुमान ।। ९६ ।।

खाली साधु न विदा करु, सुन लीजै सब कोय ।
सोई कबिरा भेंट धरु, जो तेरे घर होय ।। ९७ ।।

कबिरा दर्शन साधु के, खाली हाथ न जाय।
यही सीख बुधि लीजिये, कहैं कबिर समुझाय ॥ ९८ ॥

अपने पास से साधु के चलते समय रो दो, सदा साधु संगति चाहो, और अत्यन्त सनमान (आदर) करो अपनी सम्पत्ति के अनुसार भेट धरो (दो) ॥ ९६ ॥ खाली (भेट विना) साधु को विदा नहीं करो, इस बात को सब सुन लो, परन्तु हे कबिरा (जीव) सोई भेट धरो, जो कि तेरे घर की वस्तु हो, दूसरे से कर्जादि लेकर भेट नहीं करो ॥ ९७ ॥ हे कबिरा ! साधु के दर्शन के लिये उनके आश्रम में भी खाली हाथ नहीं जाओ, पुष्पादि लेकर जाओ, यही शिक्षा बुद्धिमान से लीजिये, सो कबीर (ज्ञानी गुरु) समुझाय कर कहते हैं ॥ ९८ ॥

टूका माही टूक दे, चीर माहिं सो चीर।
साधू देत न सकुचिये, यों कह दास कबीर ॥ ९९ ॥

कञ्चन दीया कर्ण ने, द्रोपदि दीया चीर।
जो दीया सो पाइया, ऐसे कहैं कबीर ।१००॥

जा सुख को मुनिवर रटै, सुमिरन करै विलाप।
सो सुख सहजे पाइया, सन्तो संगति आप ॥१०१॥

टूका रोटी में से भी भूखे को टूक दो, और अपने वस्त्र में से नंगे सज्जन को वस्त्र दो, सज्जन के प्रति देने में संकोच नहीं करो, इस प्रकार दास (भक्तों) के प्रति कवीर (ज्ञानी गुरु) कहते हैं ॥ ९९ ॥ कर्ण ने सुवर्ण दिया, और नदी में लंगोटी बह जाने पर द्रोपदीने दुर्वासा को आञ्चल का चीर दिया, फिर जो दिया सो कर्ण और द्रोपदी पाया कि जिससे द्रोपदी का पट बढ गया, दुःशासन खीच नहीं सका ॥ १०० ॥ जिस अपने स्वरूप सुख मोक्ष के लिये मुनि वर वेदादि को रटते हैं, स्मरण भक्ति और विलाप (स्तुति) करते हैं, सो आप स्वरूप सुख को भी सन्तों की सदा सङ्गति से सहज (अनायास) ही पाया जाता है ॥१०१॥

मेरा मन पक्षी भया, उड़ि के चढा अकाश।
वैकुण्ठ हूँ खाली पड़ा, साहब सन्तों पास ॥१०२॥

पर्वत पर्वत मैं फिरा, कारण अपने राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ॥१०३॥

भली भई हरि जन मिले, कहने आयो राम।
सुरति दशो दिश जाय थी, आपन आपन काम ॥१०४॥

सत्संग बिना मेरा (जीवका) मन पक्षी तुल्य हुआ, और साहब का आकाश में बास समझ कर, मिलने के लिये आकाश (वैकुण्ठ) में उड़ कर चढ़ा, तहाँ वैकण्ठ भी खाली दीख पड़ा, क्योंकि साहब तो सन्तों के पास में रहते हैं ॥ १०२ ॥ अपने राम स्वरूप से मिलने के कारण मैं (जीव) पर्वतों पर फिरा, परन्तु वहाँ काम (प्रयोजन) सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु जब राम सरीखे (तुल्य) असंग साधु जन मिले तो तिन जनोंने सब काम को सिद्ध पूर्ण किया ॥१०३॥ हरि जन मिले तिससे सब बात भली हो गई और जो सुरति (मन इन्द्रिय की वृत्ति) अपने अपने काम (इच्छा फलके) लिये दशो दिशाओं में जाती थी, सो हरिजन के मिलने पर राम कहने के लिये पास में आ गई, जीव को भी राम कहने आ गया ॥१०४॥

सन्त मिला जनि बीछुरो, विछुरो मम यह प्राण।
राम सनेही ना मिलै, प्राण देह मति आन ॥१०५॥

कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि कर धाम।
जब लग सन्त न सेवई, सरे न एक हुँ काम ॥१०६॥

आशा वासा सन्त का, ब्रह्मा लखै न वेद।
षट् दर्शन खटपट करै, विरला पावै भेद ॥१०७॥

कबीर सोई दिन भला, जा दिन सन्त मिलाय।
अंक भरे भरि भेंटिये, पाप शरीरा जाय ॥१०८॥

जिनके संग से सुरति स्थिर होती है ऐसा मिला हुआ सन्त फिर विछुड़े नहीं, यह मेरा प्राण भले ही विछुड़े (छुटे) क्योंकि राम के सनेही सन्त जन्मान्तर में नहीं मिलते हैं प्राण देह मति (बुद्धि) तो फिर अन्य अन्यत्र भी मिलते हैं ॥१०५॥ करोड़ों तीर्थ धाम की यात्रादि करने पर भी जब तक उस सन्त को नहीं सेवता है, तब तक एको काम सिद्ध सफल भी नहीं होता है ॥१०६॥ ऐसे सन्त की आशा (आश्रय या इच्छा तात्पर्य) को और वासा (स्थिति वा बासना काम) को ब्रह्मा और वेद भी नहीं साक्षात् देखते हैं, क्योंकि आश्रय स्थितिं स्वसंवेद्य है, इच्छा वासना का उन में अभाव रहता है। इससे उन सन्तों के विषय में योगी आदि षट् दर्शन भी खटपट (विवाद) करते हैं, परन्तु विरले सज्जन उनका भेद (रहस्य) पाते हैं ॥१०७॥ पूर्व पुण्य बश जिस दिन सन्त स्वयं आकर मिले, वह दिन अति उत्तम है, अंक में भरे (प्राप्त) सन्त को प्रेमादि हृदय में भर कर भेंटो तो शरीर से पाप जायगा ॥१०८॥

इति साधु महिमा का अंग ॥

अथ मध्य का अंग ॥ ४५ ॥

मध्य अंग लागा रहै, तरत न लागै बार।
दो दो अंग सो लागता, बूडत है संसार ॥ १ ॥

कबीर दुविधा दूरि कर, एक अंग ह्वै लाग।
वा शीतल वा तपत है, दोऊ कहिये आग ॥ २ ॥

अनल अकाशे घर किया, मध्य निरन्तर बास।
वसुधा बास विरक्त रह, बिना ठौर विश्वास ॥ ३ ॥

यद्यपि "अल्पान्नाऽभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च। ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ मनुः ६। ५७" इत्यादि वचनों से साधक के लिये

अल्पान्न भोजनादि का विधान है, तथापि अत्यन्त अल्प भोजनादि होने पर भी साधन नहीं हो सकता, इस लिये "नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः। नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन!" इत्यादि वचन के अनुसार अतिभोजन अतिउपवास अतिशयन अतिजागरनादि को योग के बाधक होने से परिमित सब व्यवहार भोजनादि ज्ञानादि के साधक हैं। क्योंकि अतिशीत अतिघाम, गुरु आदि की अति समीपता अतिदूरता, अतिसुख, अतिदुःखादि सब से योग में विघ्न होता है, इस आशय से कहते हैं कि जो साधक मध्य अंग (उपाय) भोजनादि में तथा शारीरिक सुखादि में लगा रहता है, तथा मध्याङ्ग हृदय में बिचार परायण जो रहता है, उसको तरने में देर नहीं लगता है और दो दो अंग (कभी अति भोजन कभी अति उपवासादि) से जो लागता है, सो संसार में बूड़ता है ॥ १ ॥ इसलिये साधनों में दुविधा (विकल्प-संशय-भेद) को दूर करके एक अंग (उपाय) में दृढ़ होकर लगो, यद्यपि वह विषय सुख जल शीतल है, वह उपवास तप अग्नि तप्त (उष्ण) है परन्तु अति होने पर दोनों को अग्नि (दाहक) ही कहते हैं ॥ २ ॥ अनल (अपूर्ण) जो जिज्ञासु भक्त जीव मध्य हृदयाकाश में घर (धारणा) किया, और भोजनादि व्यवहार में मध्य अंग से निरन्तर (सदा) बास (स्थिति) किया और भूमि आदि में बासना से विरक्त रहा, सो बिना ठौर का जो निराधार आत्मा उसका विश्वास ज्ञानादि पाया ॥ ३ ॥

अलल पंछि का चेंचुआ, गिरते किया विचार।
सुरति बांधि चेतन भया, जाय मिला परिवार ॥ ४ ॥
अलल पंछि आवै नहीं, सुत अपने को लैन।
वह अलीन यह लीन है, उलटि मिले सुख चैन ॥ ५ ॥
जाय मिला परिवार में, सुख सागर के तीर।
बरन पलटि हंसा किया, सतगुरु सत्य कबीर ॥ ६ ॥

अल (पूर्णपद) को शिष्य में लानेवाले अलल (सद्गुरु) के चेंचुआ (बच्चा-शिष्य) दैव योग से कभी नीचे के अवस्था में गिरते हुए में भी विचार किया, तो ध्यान को बांध (स्थिर) करके चेतन (सावधान) हो गया, और अपने परिवार (सत्संग) में जा कर मिला ॥ ४ ॥ उपदेश देकर अलल पक्षि गुरु फिर अपने सुत (शिष्य) को लेने नहीं आते हैं, क्योंकि वह गुरु अलीन (स्वरूपस्थ) हैं, और यह शिष्य लीन (संसारस्थ) है इससे दोनों का संबन्ध नहीं है, तथापि उपदेशादि के बल से शिष्य स्वयं संसार से उलट कर सुख स्वरूप और चैन (विश्रामस्थान) में मिलता (प्राप्त होता) है ॥ ५ ॥ सुख सागर आत्मज्ञानादि के तट पर सत्संगी गुरु रूप परिवार से जाकर मिला, तब सद्गुरु सन्तों ने उसका संसारी स्वरूप बरण को पलट कर हंस (परमात्मा) बना दिया, वही हंस बनाने वाले सद्गुरु और सत्य स्वरूप हैं ॥ ६ ॥

जेहि पंडे पंडित गये, तिन ही गया बहीर।
अवघट घाटी राम की, जिहि चढि रहे कबीर ॥ ७ ॥

नरक स्वर्ग न्यारा रहा, सतगुरु के परसाद।
चरण कमल की मौज में, रहसी अन्त रु आद ॥ ८ ॥

हिन्दू कहौं तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहि।
पांच तत्त्व का पूतला, गैबी खेलै मांहि ॥ ९ ॥

गैबी तो गलियाँ फिरै, अजगैबी कोइ एक।
अजगैबी को सो लखै, जाके हृदय विवेक ॥ १० ॥

जिस कर्म कामादि मार्ग से पडित (सत्संग रहित शास्त्रज्ञ) गये, उसी पैंड़े (मार्ग) से तिन पडितों के ही पीछे बहिर (श्रवणादि रहित) गतानुगतिक लोग गये, और राम की (निष्काम भक्ति की)। अवघट (कठिन) घाटि (मार्ग) है, तिस में सन्त जन चढि रहे ॥ ७ ॥ सतगुरु

की कृपा से स्वर्ग नरक दोनों से न्यारा सन्त रहा, और सतगुरु के चरण कमल की मौज (आनन्द) में आदि और अन्त में सदा रहेगा ॥ ८ ॥ सन्त का निश्चय है कि मैं हिन्दू या मुसलमान नहीं हूँ, क्योंकि पाँच तत्त्व का पुतला यह देह है, और गैब (गुप्त दैव शक्ति) से सिद्ध जीवात्मा इसमें खेलता है. सो हिन्दू तुरुक नहीं है ॥ ९ ॥ सो गैबी (जीव) ही संसार सहर के गलियों में फिरता है, जीव मात्र के ज्ञाता भी जन्मता मरता है, अजगैबी "आश्चर्यो ज्ञाता" इस कठ श्रुति के अनुसार आश्चर्य स्वरूप शुद्धात्मज्ञानी कोई होता है, उसको समझता भी कोई विवेकी है ॥ १० ॥

गैबी आया गैब ते, यहाँ लगाया ऐब ।
उलटि समान गैब में, छूट[1] गया सब ऐब ॥ ११ ॥

हिन्दू मूआ राम कहि, मूसलमान खुदाय ।
कहैं कबिर सो जीवता, दोउ के संग न जाय ॥ १२ ॥

दुखिया मूआ दुःख करि, सुखिया सुख को झूर ।
दास अनन्दित राम का, दुख सुख डारा दूर ॥ १३ ॥
काबा फिर काशी भया, राम जु भया रहीम ।
मोटा चुन मैदा भया, बैठ कबीरा जीम ॥ १४ ॥

गैबी गैब (गुप्त) स्वरूप से ही देह संसार में आया है, और यहाँ रागद्वेषादि ऐब (दोष) अपने में लगाया हैं, जो गैब को जानकर यहाँ से उलटकर कर गैब में समाया (ब्रह्मात्मनिष्ठ हुआ) उसके सब ऐब छूट गये ॥ ११ ॥ गैब में समाने बिना हिन्दू राम कहकर भी ऐब में मुआ, और मुसलमान खुदा कहकर मुआ, वह जीता है, राग द्वेष से नहीं मरता है, कि जो इन दोनों के संग में नहीं जा कर आत्मनिष्ठ होता है ॥ १२ ॥ आत्मनिष्ठा बिना दुखिया (दरिद्रादि) दुःखमय व्यवहारादि करके मरा, और सुखिया (धनी राजा आदि) सुख को पाकर झूर (शुष्क हृदय

१ कहाँ रहेगा ऐब । पा० ॥

कठोर) होकर मुआ, जो राम का दास इस सुख दुःख को दूर डारा (त्यागा) इनके अभिमानादि से रहित विवेकी हुआ, सोई आनन्दित सुखी रागद्वेषादि रहित रहता है ॥ १३ ॥ उसके लिये कावा ही फिर काशी हो गया, और राम ही रहीम (खुदा) हुआ, अर्थात् कावा काशी राम रहीमादि की भेद बुद्धि उसे नष्ट हो गई। इससे मोटा चून (आंटा) मैदा (महीन) हो गया, अर्थात् सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान हो गया, इससे वह जीव वैठकर जीमता (आनंदानुभव करता) है ॥ १४ ॥

धरती और आकाश में, दो तुमरी अबद्ध।
षड दर्शन संशय पड़ा, समुझा सोई सिद्ध ॥ १५ ॥

नगर चैन तब जानिये, राज छत्र इक होय।
साध् राजा राम में, सुखि देखा नहि कोय ॥ १६ ॥

जो मन लागै एक से, तो निरुवारी जाय।
मांदर दो मुख बाजता, घना तमाचा खाय ॥ १७ ॥

जाया जाया सब कहै, आया कहै न कोय।
जाया नाम है जहर का, रहन कहां ते होय ॥ १८ ॥

भूमि और आकाश में कहने के लिये मानो तुमरी रूप राम रहीम दो हैं, वस्तुतः तुमरी (तेरी) ही अबद्ध (बंधन रहित) पारमार्थिक स्वरूप का राम रहीम नाम दो है, वस्तु दो नहीं है, तो भी योगी जंगमादि दो के संशय में पड़े है, जो एक समझा सो सिद्ध है ॥ १५ ॥ संसार में तभी चैन समझिये कि जब छत्रपति राजा एक हो (एकेश्वर वाद हो) इसके बिना साधु में, राजा में, राम में भी किसी को सुखी नहीं देखा ॥ १६ ॥ यदि एक से मन लगे तो दुःखादि का निरुवार (निवारण) हो सके, नहीं तो मांदर बाजा दो मुख से बजता हुआ घना तमाचा खाता है, सोई हालत द्वैत भाव से होती है ॥ १७ ॥ जाया (पाणि गृहीता स्त्री) से पुत्र हुआ (जन्मा) ऐसा सब कहता है, और जन्म रहित को जानने बिना आया कोई नहीं

कहता, इससे अज्ञ के लिये जाया जहर (विष) का नाम है, उसमें आसक्ति से आत्मस्थिति कैसे होय ॥ १८ ॥

आवत सब जग देखिया, जात न देखै कोय।
आवत जात लखै सोई, जाको गुरु मत होय ॥ १९ ॥

प्रगट गुप्त की संधि में, जो पै अस्थिर होय।
ज्यों देहली का दियरा, अन्दर बाहर सोय ॥ २० ॥

कोइ निन्दौ कोई वन्दौ, सिंहहि स्वान रु स्यार।
हरष विषाद न केहरी, कुन्जर गन्जनहार ॥ २१ ॥

जिनके उरसे उठि गई, मैं तैं बुरी बलाय।
कहैं कबिर ते ब्रह्म हैं, सकै कौन भरमाय ॥ २२ ॥

आते समय वर्तमान काल में सब दीख पडता है, तथा आते को सब देखता है, जाते को कोई नहीं देखता कि कहां गया, आते जाते दोनों को वही जानता है कि जिसको गुरु ज्ञानादि प्राप्त रहता है ॥ १९ ॥ गुरु मत प्राप्त करके प्रगट गुप्त (स्थूल-सूक्ष्म) दोनों देहादि की संधि में जो कोई स्थिर होता है, दोनों के साक्षी आधार को जानता है, उसे बाहर भीतर का इस प्रकार प्रकाश होता है, कि जैसे देहली के दीप से प्रकाश होता है, उसे बाहर भीतर सो आत्मा ही सत्य भासता है ॥ २० ॥ फिर चाहे उसे कोई निंदो, वन्दौ, उससे हर्ष विषाद नहीं होता है, जैसे सिंह को स्यार स्वान की स्तुति निंदा से कुछ नहीं होता हैं, और हाथी का मारनेवाला होता है ॥ २१ ॥ माया मोहादि को गन्जन करनेवाले जिनके हृदय से मैं तैं (रागद्वेषादि) रूप बुरी बलाय रूप विकार उठ गये, वे ही मनुष्य ब्रह्म हैं, उनको भ्रमा भी कौन सकता है ॥ २२ ॥

पाप पुण्य दोऊ तजै, कलह जनित पछ थाहि।
राम नाम को जानिके, विघ्न नहीं कछु ताहि ॥ २३ ॥

दोउ दीन द्वौ दाल है, अंकुर मध्य अतीत ।
सो कवीर ऊंचे चला, छाड़ि दोउ की रीत ।। २४ ।।

रहनी राजस ऊपजै, करनी आपा होय ।
रहनी करनी छाडि के, मध्यम रहै समोय ।। २५ ।।

कथनी कुंभी नरक है, करनी दिया जलाय ।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा ह्वै के आय ।। २६ ।।

कलह (विरोध) जनित पक्ष (मत) थाहि (स्थान) के पाप और पुण्य दोनों को त्यागै, सत्य शब्द निष्ठ राम को जान कर इसे त्याग करने से उस पुरुष को कुछ भी विघ्न नहीं होता है ।। २३ ।। दोनों दीन (धर्म) चना आदि के दो दाल (दल-भाग) तुल्य है, और मध्य के अंकुर शक्ति तुल्य इन दोनों के विरोधों से अतीत (रहित) ज्ञानी है, इसीसे वह दोनों की रीति को त्याग कर ऊर्ध्व गमन किया ।। २४ ।। हिन्दू तुरुक की रहनी (पक्ष) राजस पन से उत्पन्न होता है, और पक्ष के अनुसार करनी आपा (अहंकार-ममता) से होती है, और इस रहनी करनी को छोड़ कर मध्य में समाय कर रहता है ।। २५ ।। केवल कथनी कुम्भीपाक नरक रूप है, उसको श्रेष्ठ करनी से यदि जला दिया, तो भक्त जीव कहता है कि ऐसा होने पर भक्ति पथ में आय सकते हो ।। २६ ।।

निर्गुण सगुण हि छाडि के, रहै सन्धि लपटाय ।
कहै कबीर विचारि के, नहिं आवै नहिं जाय ।। २७ ।।

पाया कहै सो बावरा, खोया कहै सो कूर ।
पाया खोया कछु नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।। २८ ।।

भजौं तो को है भजन को, तजौं तो को है आन ।
भजन तजन ते रहित है, सो कबीर मन मान ।। २९ ।।

एक कहौं तो दोय है, दोय कहौं तो एक ।
एक दोय के मध्य में, ज्यों का त्यों ही देख ।। ३० ।।

निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर बुद्धि को त्याग कर दोनों की सन्धि स्वरूप विचार में लपटाया रहे, इस प्रकार के विचार करके आत्मानुभव से जन्म मरण रहित होता है ॥ २७ ॥ ब्रह्म को प्राप्त किया ऐसा कहनेवाला बावरा है क्योंकि अप्राप्त की प्राप्ति होती है और विभु ब्रह्म नित्य प्राप्त है, इस प्रकार आत्माको खोया ऐसा कहनेवाला भी कूर (क्रूर, कठिन, मूख) है, क्योंकि ब्रह्मात्मा पाया खोया कुछ नहीं है, ज्यों का त्यों (सदा एकरस) भरपूर (व्यापक) है ॥ २८ ॥ इसीसे भजों तो भजन से प्रसन्न होनेवाला भजन का विषय कौन है, और तजौ तो त्यागने योग्य अन्य कौन है, इसलिये भजनादि से जो रहित है, उसीको मन में साक्षी स्वरूप समझा । भजन तजन के मध्य में पाठांतर है ॥ २९ ॥ एक कहने पर दो की अपेक्षा होती है, दो कहने पर एक की सिद्धि होती है, क्योंकि दो एक से ही दो होता है, इससे दो और एक के मध्य में ज्यों का त्यों साक्षी स्वरूप को समझो, सापेक्ष शब्दों से क्या लेना है ॥ ३० ॥

पाप करौं तो पुण्य ह्वै, पुण्य करौं तो पाप ।
पुण्य पाप के मध्य में, रहा कबीरा आप ॥ ३१ ॥

लेऊं तो महाप्रतिग्रह, देऊं तो भोगन्त ।
लेन देन के मध्य में, सो कबीर निज सन्त ॥ ३२ ॥

वार कहों तो पार है, पार कहों तो वार ।
पार वार के मध्य में, देखा सकल पसार ॥ ३३ ॥

हिन्दू ध्यावै देहरा, मूसलमान मसीत ।
दास कबिर तहँ ध्यावही, दोनों की परतीत ॥ ३४ ॥

किसी की दृष्टि से पाप करने पर भी किसी की दृष्टि से पुण्य होता है, पाप कर्म से भी कहीं पूर्व पुण्य से सुख होता है, तैसे ही पुण्य करते में भी पाप होता है, परंतु दोनों के मध्य में साक्षी स्वरूप आत्मा है सो पुण्य पाप

से रहित है ।। ३१ ।। दान लेने पर महाप्रतिग्रह (देय द्रव्य-संग्रह) होता है, फिर देने की विधि प्राप्त होती है, विधि के अनुसार देने पर फिर उसको फल भोगना होता है, इससे लेन देन के मध्य में दान प्रतिग्रह कामादि रहित ही खास सन्त रहते हैं ।। ३२ ।। वार (संसार) कहने पर पार (मोक्ष) और मोक्ष कहने पर संसार सिद्ध होता है, इसी वार पार स्वरूप के मध्य में सब कर्म साधनादि का विस्तार देखा जाता है ।। ३३ ।। देहरा (मंदिर में) हिन्दू ध्यान करता है, मुसलमान मसजीद में करता है कि जहाँ दोनों को सब ज्ञान विश्वास सिद्ध होता है ।। ३४ ।।

हिन्दू तो तीरथ चले, मक्का मूसलमान ।
दास कबीर द्वौ छाड़ि के, हक्का करि रह जान ।। ३५ ।।

हिन्दू करै एकादशी, रोजा मूसलमान ।
दास कबिर द्वौ छाड़ि के, तन मन को खोजान ।। ३६ ।।

दुआ देउं तो दोजख जाऊं, बद दूआ भी नाहिं ।
दुआ बद दुआ किसको देऊं, साहब है सब माहि ।। ३७ ।।

मड़ि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर ।
यमरा औ जगदीश के, मधि में बसै कबीर ।। ३८ ।।

हक्का (हक हिस्सा उचित वितरण) का विचार करके उसे समझ कर जहां के तहां स्थिर रहा ।। ३५ ।। तन और मन को खोजा (इसी में प्रभु को भक्त जीव प्राप्त किया) अथवा तन मन के अभिमान को खो कर समझा ।। ३६ ।। समझने बिना यदि किसी को दुआ (आशीर्वाद) देऊं, तो दुआ के अनधिकारी के प्रति दुआ देने से दोजख जाऊं (दोष का भागी बनूं) और बददुआ (शाप) भी उचित नहीं है, जब सब में एक साहब ही है, ऐसी स्थिति है, तो दुआ बददुआ किसको दिया जाय, इससे मध्य स्थिति ही ठीक है ।। ३७ ।। इस मध्य स्थिति के मैदान में माड़ि (डट) रहना चाहिये, और व्यवहार रूप तीर को सन्मुख सहना चाहिये, कपट का

व्यवहार नहीं करना चाहिये, और यम के अधीन शरीर है, जगदीश स्वरूप आत्मा है, इससे दोनों के मध्य में खुसी से वास करे, जिसका जो अंश हक्क है, सो ले मुझे इस से क्या मतलब है, ऐसा समझे ॥ ३८ ॥

हिन्दु तुरुक के बीच में, मेरा नाम कबीर।
जिव मुक्तावन कारने, अविगत धरा शरीर ॥ ३९ ॥

हिन्दु तुरुक के बीच में, शब्द कहूँ निरबान।
बन्धन काटूं मुक्तिदूं, मैं रहिता रहमान ॥ ४० ॥

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबिर समाना मध्य में, तहाँ दूसरा नाहिं ॥ ४१ ॥

हिन्दू तुरुक के मध्य में ज्ञानी आत्मा का कबीर नाम है, सो अविगत (अविषय-अगम) होते भी जीवों की मुक्ति के लिये शरीरधारी तुल्य होता है ॥ ३९ ॥ हिन्दू तुरुक दोनों के बीच में निर्वान (मोक्ष) के लिये ज्ञानी शब्द कहता है, जीव के बन्धन काट कर मोक्ष देता है, और स्वयं मैं (अभिमान) से रहित रहमान (दयावान) होता है ॥ ४० ॥ एक ब्रह्म सब में अधिष्ठान आधार रूप से समाया है सब संसार उस में कल्पित स्थित है, ज्ञानी सकल और एक के मध्य में आत्मरूप से समाया है, तहाँ द्वैतभाव नहीं है इत्यादि ॥ ४१ ॥

इति मध्य का अंग ॥

———

अथ समुझे घट का अंग ॥ ४६ ॥

समुझे घट का एक मत, शब्द बिचारै खेल।
जा घट जैसा रामती, ता घट तैसा मेल ॥ १ ॥

समझ सरीखे वात है, कहन सरीखे नाहिं।
जेता ज्ञानी देखिये, तेता संशय माहिं ॥ २ ॥

जहँ ज्ञानी तहँ गड़बड़ा, जहँ पंडित तहँ वाद।
जहँ तपसी तहँ तेज है, जहाँ शान्ति तहँ स्वाद ॥ ३ ॥

समुझे घट को हरि कथा, अन समझे को हांजि।
शब्द शब्द में आंडि कर, ज्योंहि दूध में कांजि ॥ ४ ॥

सभी समझे घट की बात और मत (निश्चय-सिद्धांत) एक रहता है, और शब्द के विचार में समझे लोग खेलते हैं। जिस घट में जैसा रामत (विचार-खेल) रहता है, तिस घट में तैसा ही मेल (प्रेम अनुभव) भी रहता है ॥१॥ समझने वालों की सरीखे (तुल्य ही) बात है, समझे बिना कहने वालों की बात तुल्य नहीं होती है। इसी से कहने वाले जितने ज्ञानी देखे जाते हैं सो सब संशय में रहते हैं ॥ २ ॥ इससे ऐसे ज्ञानी जहाँ हैं, तहाँ गड़वड़ (विरोध) है, पुस्तकपाठी पंडितों के यहाँ विवाद है, तपस्वी के यहाँ तेज (अहंकार-क्रोध) है, शांति के स्थान में स्वाद (आनंद) है ॥ ३ ॥ समझने वालों को हरि की कथा ठीक है, अनसमझे को जो सुना उसमें हांजि करना है, और हर शब्द में आंडि (चिंता) करते हैं, जैसे दूध में कांजी हो ॥ ४ ॥

समुझे सो कहिय सुनिये, अनसमुझे सो नाहिं।
कहैं कबिर तहँ है भला, भवन मुष्ट रहनाहिं ॥ ५ ॥
समझे को सेरी घनी, अनसमुझे को नाहिं।
द्वार न पावै शब्द का, फिरि[१]फिरि भटका खाहिं ॥ ६ ॥

समुझाये समुझै नहीं, परहथ जीव बिकाय।
मैं खैंचो सतलोक को, सूधा यमपुर जाय ॥ ७ ॥

---

[१] गोताखाहिं । पा० ॥

समुझा समुझा एक है, अनसमझे सब एक।
समुझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक ॥ ८ ॥

विवेकी श्रद्धालु से कहना सुनना चाहिये, अविवेकी हठी से नहीं, तहाँ तो मुष्ट (चुप) होकर भवन में रहना ही भला है ॥ ५ ॥ विवेकी के लिये घनी (बहुत) सेरी (सीढ़ी-मार्ग उपाय) है कि जिससे उसको समझाया जा सके, अविवेकी के लिये नहीं है, इससे वह शब्द द्वार (मार्ग) को नहीं पाता है कि जिससे चौरासी लक्ष योनिरूप कोट से निकल सके, इससे फिर २ कर भटका (धोखा) खाता है ॥ ६ ॥ समझाने पर भी जो नहीं समझता है, सो जीव परहथ (परवश) होकर विका जाता है यद्यपि मैं जीवों को सत्य स्वरूप लोक (प्रकाशात्मा) के तरफ खींचता हूँ, तथापि वह कामादि के वशीभूत जीव सीधा यमपुर में जाता है ॥ ७ ॥ विवेकी अनुभवी सब एक स्वभाव के हैं, अविवेकी सब एक चाल के हैं, समझा उसीको समझना चाहिये कि जिसके हृदय में आत्माऽनात्मा सत्य मिथ्यादि का विवेक हो ॥ ८ ॥

कोटि सयाने पचि मुये, कथै विचारे लोय।
समझा घट तब जानिये, रहित विकार जु होय ॥ ९ ॥

समुझा घट तब जानये, समुझि समाना माहिं।
जब लग कछु कहवीत है, तब लगि समझा नाहिं ॥ १० ॥

साखी आंखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगडा छूटत नाहि ॥ ११ ॥

करोडो लौकिक सयान (चतुर) बेचारे लोग कथन करके पच मुये परन्तु समझे नहिं, समझवाला घट तब जानना चाहिये कि जब कामादि शोकादि विकार से रहित हो ॥ ९ ॥ समझकर अन्तर में समाये (प्रवेश किये) हो तब पूर्ण समझ है ऐसा जानना चाहिए, और जबतक कुछ भी

कहवीत (प्रष्टव्य-कर्त्तव्य) बाकी है, तब तक पूर्ण समझ नहीं हुआ है ॥ १० ॥ ज्ञान की दृष्टिरूप साखी को मन में समझ कर देखो, साखी के बिना संसार का झगरा समाप्त नहीं होता है ॥ ११ ॥

इति समुझे घट का अंग ॥

———

अथ विचार का अंग ॥ ४७ ॥

रामनाम सब कोइ कहै, कहवे माहिं विवेक ।
एक अनेका फिरि मिला, एक समाना एक ॥ १ ॥

रामनाम सब कोइ कहै, कहवे माहिं बिचार ।
सोइ राम साधू कहै, सोइ राम संसार ॥ २ ॥

आग कहै दाझै नहीं, पाँव न दीजै माहिं ।
जो पै भेद न जानई, राम कहा तो काहि ॥ ३ ॥

कबिर सोधि बिचारिया, दूजा कोई नाहिं ।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना ताहि ॥ ४ ॥

रामनाम सब कोई कहता है, परन्तु कहने में भी विवेक (भेद) है, या विवेक की आवश्यकता है विवेक के बिना एक कहनेवाला एक कह कर भी फिर अनेक में जा मिला और एक विवेकी एक कहता हुआ एक ही में समाया ॥ १ ॥ रामनाम सब कोई कहता है, परन्तु कहने में भी विचार है कि उसी राम को निष्काम साधु कहता है, और उसी राम को कामी संसारी कहता है ॥ २ ॥ यदि अग्नि में पांव नहीं दिया जाय तो अग्नि कहने मात्र से जलाती नहीं है, तैसे ही यदि हृदय से राम का भेद नहीं समझा तो राम कहने से क्या हुआ ॥ ३ ॥ जब कुछ शोध (समुझ) कर फिर विचार किया, तब राम से दूजा (भिन्न) कोई सत्य नहीं रहा, इस प्रकार जब अपने

को और पर तत्त्व को चीन्हा तब संसार से उलट कर पर तत्त्व में ही समा गया ॥ ४ ॥

पानी केरा पूतला, राखा पवन संचार।
नाना बानी बोलता. जोति धरी करतार ॥ ५ ॥
आधी साखी शिर कटै, जो निरुआरी जाय।
मन परतीति न ऊपजै, रात दिवस मर गाय ॥ ६ ॥

एक शब्द में सब कहा, सबही अर्थ विचार।
भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार ॥ ७ ॥

कबीर भूला रंग में, लेन कहै फल फूल।
कै समुझावै रामजी, नातर भूला मूल ॥ ८ ॥

यह देह रजोवीर्य रूप पानी का पूतला है, जिस में पवन (प्राण) का संचार (प्रवेश) करके रखा गया है वह पूतला नाना वाणी बोलता है, और इसमें कर्ता ने ज्योति भी धरी है। ५॥ शिर कटे आधी साखी ओम् कार से यदि उस ज्योति का निरुआर (ज्ञान) किया जाय तो हो सकता है, तथा आधि साखी जो आगे कहना है, उससे उस पूतला का शिर कट सकता है (सकारण अभाव हो सकता है) यदि निरुआर किया जाय, परन्तु जीवों को मन में प्रतीत नहीं होता है, रात दिन गा कर मरते हैं ॥ ६ ॥ एक ही (थोरे ही) शब्द में सब अर्थ और सब बिचार कहा गया है, वह यह है कि निर्गुण राम को भजिये, और विषय तथा कामादि मन के विकारों को त्यागिये ॥ ७ ॥ कामादि वश जो संसार के रंग में भूला सो स्वर्ग पुत्र धन धर्मादि फल फूल लेने को कहता है, उसको सद्गुरु रूप से चाहे तो रामजी समुझावे, नहीं तो वह मूल वस्तु को भूल जाता है। ॥ ८ ॥

नव मन सूत अरुझिया, कबिरा घर घरवारि।
जिन सरुझाया रामजी, जानी भक्ति मुरारि ॥ ९ ॥

राम कहौ मन बशि करौ, येही बड़ा अरथ्थ।
काहे को पढि पढि मरो, कोटिक ज्ञान गरंथ ॥ १० ॥
कबीर बोल अमोल है, जो कोई जानै बोल।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर खोल ॥ ११ ॥
ज्यों आवै त्योंही कहै, जो कोइ जानै बोल।
हिये तराजू घालसी, तौ मुख बाहर खोल ॥ १२ ॥

मूल के भूलने पर कबीरा (जीव) के घर बरवारि (शरीर के व्यवहार) में नव मन सूत अरुझा (चार अन्तःकरण पांच ज्ञानेन्द्रिय व्यवहार विषय में फंसे) फिर जिनके सूत को रामजी सरुझाया, उन लोगों ने मुरारि (हरि) की भक्ति जानी ॥ ९ ॥ सरुझाने वाला राम को भजो और मन को वश में करो सब अर्थों से यही बड़ा श्रेष्ठ अर्थ (प्रयोजन) है, इसके बिना करोड़ों ज्ञान ग्रंथ को केवल पढ़ २ कर क्यों मरते हो ॥ १० ॥ मन को वश में करके समझ कर जो कोई बोलता है, वह बोल अमोल है, इसलिये हृदय रूपी तराजु पर तौल कर (सत्य उचित समझ कर) मुख बाहर खोलो ॥ ११ ॥ जिस प्रकार विचारादि से जो अर्थ समझ में आवे, उसको जो कोई जानकर बोलता है, सो उस अर्थ को त्योंही (समझ के अनुसार ही) कहै, और समझने के लिये, बोलने के लिये प्रथम हृदय रूप तराजू पर दो, फिर मुख से उसे बाहर प्रगट करो ॥ १२ ॥

ज्यों आवैं त्योंही कहै, बोलै नहीं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ लिये तरवार ॥ १३ ॥
बोलै बोल विचारि के, बैठे [1]जगह सँभार।
कहैं कबिर ता दास की, कबहुँ न आवै हार ॥ १४ ॥
बोली मेरी पलटिया, या तन याही देश।
खारी ते मीठी भई, सतगुरु के उपदेश ॥ १५ ॥

[1] ठोर।

वोली मेरी पूरवी वोली लखै न कोय।
मेरी वोली सो लखै, धुर्व पूर्व का होय।। १६ ।।

जो विचार कर नहीं बोलता है, सो यदि ज्यों आता (समझता) है, त्यों ही कहता है, तो पराई (अन्य की) आत्मा को हतता (पीडित करता) है उसके लिये जीभ ही तरवार रूप है ।। १३ ।। विचार कर जो बात बोले, और जगह स्थान को सम्हाल कर जो बैठे, उस भक्त की कभी हार नहीं होती है ।। १४ ।। भक्त जीव की बोली इस तन और देश में ही पलट गई, रुक्ष से मीठी (मधुर) सद्गुरु के उपदेश से हो गई ।। १५ ।। मेरी बोली पूरबी (पूर्वदेश) की है, तथा सबसे पूर्व वर्तमान वस्तु सत्यात्मा के बोधक मेरी बोली है, उस बोली को कोई लखता (समझता) नहीं है, मेरी बोली को सो समझेगा कि जो ध्रुव (अविचल) पूर्व के जिज्ञासु भक्त होगा ।।१६।।

कबीर हम सब की कही, हमरी कोई न जान।
पूरब की बातैं कहौं, पश्चिम जात समान ।। १७ ।।

कबीर अपनी सब कहैं, हमरी कहै न कोय।
हम अपनी आपे कहैं, होनी होय सु होय ।। १८ ।।

जो कछु करैं विचार के, पाप पुण्य ते न्यार।
कहैं कबिर इक जानि के, जाय पुरुष दरबार ।। १९ ।।

अन्तरयामी जब भये, घट घट एक विचार।
अन्तर भक्ती जानि के हंस उतारै पार ।। २० ।।

हमने सबकी हितकी बात कही है, परन्तु मेरी बात को कोई जानता नहीं है, इससे मैं पूर्व (कारण) की बात कहता हूँ, परन्तु सब पश्चिम (कार्य) में समा जाता है ।। १७ ।। अपनी २ बात सब कहता है, हमरी बात (कारण की बात) कोई कहता नहीं है इससे हम अपनी बात आप ही कहते हैं, तो भी जो होनी होती है सो तो होती ही है । "कर्ता करै सो होय" यह

अन्त के पाठान्तर है ॥१८॥ जो कुछ विचार कर ज्ञानावस्था में करता है, सो पाप पुण्य से न्यारा ही होता है, वह एक ब्रह्मात्मा को जान कर पूर्ण पुरुष के दरबार (स्वरूप) में जाता है ॥ १९ ॥ सब घट में एक अन्तर्यामी है, ऐसा विचार अनुभव जब जिस को हुआ, तब उस हंस (जीव) के अन्तरगत भक्ति को जानकर वह अन्तर्यामी ही संसार सागर से पार उतारता है ॥ २० ॥

आजा के घर अजर है, बेटा के शिर भार।
तीन लोक नाती ठगै, पंडित करो विचार ॥ २१ ॥

श्वांस चौरासी धर्म की, स्वासा एक हमार।
नीर पवन के संग है, श्वांसा देख विचार। २२ ॥

श्वांस हमारा आदि का, ताका करो विचार।
आदि अन्त सब जानये, हाथ पडै टकसार ॥ २३ ॥

जहां झूठ तहँ मीठ है, सोचि क हृदय विचार।
आपै आप ठगावते, निश्चय नाम सँभार ॥ २४ ॥

आजा (पितामह-ब्रह्मा) के घर (आश्रय) ब्रह्म, तथा अजा (प्रकृति-माया) का अधिष्ठान ब्रह्म अजर (निर्विकार) है, बेटा (अन्तर्यामी) ईश्वर के शिर पर सब संसार का भार है, और कामादियुक्त मन त्रिगुणमय देवादि रूप नाती तीनों लोक को ठगते हैं, इससे बचने के लिये विचार कर देखो ॥ २१ ॥ चौरासी लक्ष योनि के सब श्वांस (प्राणी) धर्म राज के अधीन हैं, एक मनुष्य योनि के श्वास गुरु उपदेश के अधिकारी है, सो श्वासा जल वायु के साथ में है (भूतों के अधीन कर्मादि वश हुआ है) उसे विचार कर समझो ॥ २२ ॥ हमारा ही श्वांस आदि का है, मनुष्य के कर्मादि के अधीन ही प्रायः संसार है, तिसका विचार करो क्योंकि आदि अन्त को विचार द्वारा जानने से टकसार (सत्य) हाथ पड़ता (मिलता) है ॥ २३ ॥ विचार

विना झूठ ही प्रिय है, इससे अपने आप ठगाता है, इससे शोच कर हृदय में विचारो, और निश्चय करके नाम सँभारो (भजो) ॥ २४ ॥

चार चोर चोरी गये, लै पग पनहि उतार।
चारो दर थूनी हनी, पंडित करो विचार ॥ २५ ॥

रंगहि ते रंग उपजै, सब रंग देखा एक।
कौन रंग है जीवका, ताका करो विवेक ॥ २६ ॥

कर बन्दगी निवेक की, वेष धरै सब कोय।
सो बन्दगि वहि जान दे, शब्द विवेक न होय ॥ २७ ॥

ज्ञानी का मैं गुरु अहौं, मूरख का मैं दास।
ठेंगाठेंगी[1] जहँ लखौं, दांते पकरौं घास ॥ २८ ॥

विचार नाम सँभार बिना चारों अन्तःकरण रूप चोर चोरी (अधर्म) के लिये गये हैं, सो विवेकादि रूप पैर के पनही (जूता) उतार लिये हैं, हे पंडित जन ! चारों दर (स्थान) में धारणादि रूप थूनी (स्तम्भ) हनी (स्थिर कर) के विचार करो ॥ २५ ॥ मनुष्यादि शरीर रूप रंग से शरीर ही उत्पन्न होता है, उस सब रंग (देह) को एक माया रूप देखा गया है इन सब रंगों से भिन्न जीव का कौन रंग है, उसका विचारादि से विवेक करो ॥ २६ ॥ विवेक के लिये विवेक की ही बन्दगी सद्गुरु सन्तों की करो, वेष तो विवेकी अविवेकी सब धर लेते हैं, तहाँ उस बन्दगी को त्याग दो कि जहाँ सारासारादि शब्द का भी विवेक नहीं हो ॥ २७ ॥ मैं भी ज्ञानी (विवेकी) का गुरु हूँ, मूर्खों का दास हूँ (शरीर से उनकी सेवा कर सकता हूँ परन्तु उपदेश नहीं कर सकता) जहाँ ठेंगाठेंगी (लाठी से मार) दण्डा-दण्डी देखता हूँ, तहाँ दांत से घांस पकडता हूँ। मौन धारण करके वहाँ से चलता हूँ ॥ २८ ॥

---

१ दण्डादाण्डी

नर पशु गुरु पशु वेद पशू, त्रिया पशू संसार।
[1]कहैं कबिर सो पशु नहीं, जाके विमल विचार ॥ २९ ॥

आचारी सब जग मिला, विचारि मिला न कोय।
कोटि अचारी वारिये, एक विचारी होय ॥ ३० ॥

अपने विचार विना तथा धर्माधर्म सत्यासत्यादि के विवेक बिना किसी नर, गुरु, वेद, स्त्री के अधीन रहने वाले नर गुरु आदि के पशु तुल्य हैं, वही पशु नहीं है कि जिसके बिमल धर्मात्मादि के विमल विचार है ॥ २९ ॥ विचार रहित देखादेखी आचार करने वाले सब संसार में मिलते हैं, परन्तु विचार पूर्वक आचारादि करने वाले कोई नहीं मिलते, तहां एक बिचारी यदि हो तो करोड़ों केवल आचारी त्यागे जाते हैं ॥ ३० ॥

इति विचार का अंग ॥

अथ असारग्राही का अंग ॥ ४८ ॥

कबीर कीट सुगन्ध तजि, नरक गहै दिन रात।
असार ग्राही मानवा, गहै असार हि बात ॥ १ ॥

बूटी बाटी पान करि, कहैं दुःख जो जाय।
कहैं कबीर सुख ना रहै, यही असार सुभाय ॥ २ ॥

मच्छी मल को गहत है, निर्मल वस्तु हि छाड़ि।
कहैं कबीर असार मत, मांडि रहा मन माड़ि ॥ ३ ॥

आटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु निहार।
कबीर सार हि छाडि के, गहै असार असार ॥ ४ ॥

रस छाडै छोई गहै, कोल्हू परगट देख।
गहै असार असार को, हिरदै नाहिं विवेक ॥ ५ ॥

---

१ मानुष सोई जानिये, जाके हृदय बिचार। पा०

नरक (दुर्गन्ध) असार (मिथ्या अपवित्र) बात मानता है ॥ १ ॥ बूटी (भाँग) बाटि (पीस) कर पीते हैं, और कहते हैं, कि इससे दुःख जाता है। सुख स्वरूप आत्मा को नहीं गहते ॥ २ ॥ मन को माड़ि (मोहित) करके असार मत मांड़ि (व्याप्त हो) रहा है ॥ ३ ॥ निहार (दृष्टि देकर)। सार (आत्मा) असार (देहादि) ॥ ४ ॥ छोई (छिलका सीठी) ॥ ५ ॥

दूध त्यागि रक्त हि गहै, लगै पयोधर जोंक।
कहैं कबीर असार मत, लक्षण राखै फोक ॥ ६ ॥

निर्मल छाडै मल गहै, जन्म असारे खोय।
कहै कबीर सार तजी, आपन गये विगोय ॥ ७ ॥

पयोधर (स्तन) में भी लागा हुआ जोंक दूध को छोड़ कर रक्त (रुधिर) को गहता है, तैसे असार मतवाले फोक (फोफल-असार) लक्षण को रखते हैं, फोक के पोख कोक पाठान्तर है, अर्थ है कि असार मत का लक्षण को पोस कर रखते हैं। ६ ॥ निर्मल धर्म ब्रह्म को त्याग कर असार मतवाला मल को गहता है, असार में ही जन्म खोता है, और सार को त्याग कर अपने स्वरूप को भी विगोय (भूल) गया है ॥ ७ ॥

इति असारग्राही का अंग ॥

———

अथ सारग्राही का अंग ॥ ४९ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ बहाय ॥ १ ॥

बानी बहुत प्रकार की, जाका नाहीं अन्त।
जो कछु तेरा काम की, सोई कर साधन्त ॥ २ ॥

पहिले फटकै छाज सो, थोथा सब उडि जाय।
उत्तम भांड़े पाइये, फटकन्ता ठहराय ॥ ३ ॥
हंसा पय को काढि ले, छीर नीर निरुवार।
ऐसे गहै जु सार को, सो जन उतरै पार ॥ ४ ॥
चूम्बक काढै सार को, जोरे मिला है रेत।
साधू काढै जीव को, उर अन्तर के हेत ॥ ५ ॥

सूप का सुभाव के समान साधु का स्वभाव होना चाहिये, कि जो सार २ बात को गह कर रहे, थोथा (मिथ्या) वचनादि को बहा (त्याग) दे ॥ १ ॥ बहुत प्रकार की अनन्त वानी में जो कुछ तेरे काम की है, उसी के अनुसार साधन कर ॥ २ ॥ अर्थ शब्द दोनों को प्रथम तर्क बिचार रूप छाज (सूप) से फटकै कि जिससे मिथ्या सब चित्त से हट जाय, फिर फटकने में ठहरे हुए को शुद्ध हृदय रूप उत्तम भांडे में पाइये (धरिये) ॥ ३ ॥ क्षीर नीर का निरुआर विवेक करके हंस पय मात्र को काढ लेता है ॥ ४ ॥ धलि में मिला हुआ सार (लोहा) को चूम्बक काढ़ता है। तैसे हृद्रय के प्रेम से साधु जीवात्मा को संसार से काढता मुक्त करता है ॥ ५ ॥.

पारा कञ्चन काढ़ि ले, जोरि मिला पुनि आन।
कहैं कबिर यह सार मत, परगट किया बखान ॥ ६ ॥
रक्त छाड़ि पय को गहै, ज्यों रे गौ का बच्छ।
अवगुण छाडै गुण गहै, सारगराही लच्छ ॥ ७ ॥

यदि कञ्चन अन्य धातु में भी मिला हो तो उसको पारा काढ लेता है, इसी प्रकार देहादि में मिला जीवात्मा को काढ़ना रूप यह सार मत प्रगट किया गया है ॥ ६ ॥ रक्त को छोड कर बच्चा दध को गहता है, तैसे सर्वत्र अवगुण को त्याग कर गुण का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा सार ग्राही का लक्ष्य (ध्येय) रहता है ॥ ७ ॥

इति सारग्राही का अंग ॥

अथ सर्वज्ञता का अंग ॥ ५० ॥

साकट हमरे कोइ नहीं, सबे वैष्णवा झारि।
संशय ते साकट भया, कहैं कबिर विचारि ॥ १ ॥

उहवाँ तो सब एक है, परदा रहिया वेष।
भरम करम सब दूर कर, सब ही मांह अलेख ॥ २ ॥

घट बढ़ काहु न देखिये, ब्रह्म सकल भरपूर।
जिन जाना तिहि निकट है, दूर कहै तिहि दूर ॥ ३ ॥

पार ब्रह्म सुभर भरा, दरिया वार न पार।
खाली कहीं न देखिये, जेता सुइ संचार ॥ ४ ॥

और ज्ञान सब भूप हैं, तजै न कुल की रीत।
ज्ञान कबिरा चाकवे, और सबै मंडलीक ॥ ५ ॥

हमारी दृष्टि से कोई सांकट (शाक्त) नहीं है, न सांकट हमारा कोई सम्बन्धी है, किन्तु सब के सब वैष्णव (एक विष्णु के सन्तान) हैं। परन्तु ज्ञान बिना संशय से सांकट हुआ है ॥ १ ॥ उस विष्णु स्वरूप में सब प्राणी एक हैं, परन्तु शरीर रूप वेष परदा पड़ा है, भ्रम कर्म (कार्य) देह सब को दूर करे, तो सब ही में अलेख (अदृश्य) ही है ॥ २ ॥ भ्रमादि के दूर होने पर छोटा बड़ा भी कुछ नहीं देखा जाता है। ब्रह्म ही सब में भरपूर है। सो ब्रह्म जानने वाले के अतिनिकट है, दूर कहने वाले के लिये दूर है ॥ ३ ॥ वह पर ब्रह्म सुभर भरा हुआ पार वार रहित दरिया (समुद्र) है। जितना देश में सुई का संचार हो सके उतना भी कोई स्थान उस ब्रह्म से खाली (रहित-शून्य) नहीं देखा जाता है ॥ ४ ॥ इस ब्रह्म ज्ञान से अन्य ज्ञान सब भूप (राजा) है। जिस ज्ञान के होने पर भी कुल की कुरीति को भी मनुष्य नहीं त्यागता है, और ज्ञानी पन के अभिमान करता है। जीवात्मा

का ज्ञान चक्रवर्ती तुल्य है । अन्य ज्ञान सब मंडलीक राजा तुल्य हैं (भूप है के भूमिया) पाठ है ॥ ५ ॥

इति सर्वज्ञता का अंग ॥

निजकर्ता या पिवपिछान का अंग ॥ ५१ ॥

ओंअंकार निश्चय परे, वाको उत्तम जान ।
सांचा शब्द कबीर का, पड़दा में पहिचान ॥ १ ॥

ह़रा होय सूखै सही, एक त्रिगुण विस्तार ।
प्रथमहि ताको सुमिरिये, जाका[1] यह विस्तार ॥ २ ॥

अलख पलक में खपि गयो, नीरंजन बीलाय ।
अविगति भजो जो गति नहिं, भजो कौन सो लाय ॥ ३ ॥

अलख अलख सब कोइ कहै, अलख लखै नहिंकोय ।
अलख लखा तबसबलखा, लखा अलख नहिंहोय ॥ ४ ॥

ओंकार शब्द का निश्चय उपासना से परे उस ओंकार को उत्तम जानो, और गुरु का सांचा शब्द से उस ओंकारार्थ को परदा हृदय में तथा पांच कोश के भीतर साक्षी रूप से पहचानो ॥ १ ॥ त्रिगुण का विस्तार रूप एक दृश्य संसार कभी हरा होता है, और कभी सुखता भी सही (अवश्य) है । प्रथम उसी का स्मरण (बिचार) करो कि जिस त्रिगुण का यह सब विस्तार है ॥ २ ॥ फिर अविगति को भजो कि जो गति (क्रिया कार्य) रूप नहीं है. उसी अलख (अविषय) स्वरूप निरञ्जन (माया रहित) के पलक में (मायाशक्ति में) त्रिगुण खप (समाप्त हो) गया है और बिलाता है, तथा हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) रूप निरञ्जन का भी बिलय होता है । परन्तु

१ सकल पसार । पा०॥

समझो कि अलख को कौन इन्द्रिय से लाय (पाय) कर भजौ (भजा जाय) ॥ ३ ॥ इसी से तो अलख-अलख सब कोई कहते हैं, परन्तु इन्द्रियों का अविषय होने से कोई लखता नहीं है, अविषय रूप से मन करके जो अलख को लखा सो सब को लखा, और इन्द्रियों से लखा हुआ अलख नहीं होता है ॥ ४ ॥

लखने हारा लख लिया, जाको है गुरु ज्ञान।
शब्द सुरति के अन्तरे, अलख पुरुष निर्वान ॥ ५ ॥

हम तो लखा तिहुँ लोक में, तूं क्यों कहै अलेख।
सार शब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥ ६ ॥
कथत कथत जुग थाकिया, थाकी सबै खलक्क।
देखत नजरि न आइया, हारी कहा अलक्ख ॥ ७ ॥

कथत कथत जग थाकिया, भया जो गुनागून।
देखत नजरि न आइया, हारि कहा बेचून ॥ ८ ॥

जिसको गुरु से ज्ञान मिला है, सो लखने वाला अलख को भी लख लिया, वह अलख निर्वान पुरुष शब्द और सुरति के अन्तर में साक्षी स्वरूप से वर्तमान है ॥ ५ ॥ सच्चिदादिरूप हम (अलख) ही तीनों लोक में लखा गया है, तुम सर्वथा अलेख (अज्ञेय) क्यों कहते समझते हो, सार शब्द द्वारा जो अलख को नहीं जाना, सो धोखे में ही वेष धारण किया है ॥ ६ ॥ अलखादि कथते २ युग थका, और खलक (संसार) भी थका। फिर इन्द्रियों से देखना (जानना) चाहा, परन्तु देखने से दृष्टि का विषय नहीं हुआ, तब हार कर अलख कहा ॥ ७ ॥ संसारी कहते कहते थाका, फिर गुणागुण हुआ (देखने का विचार हुआ) देखने पर नजर नहीं आया तब हार कर बेचून (अप्राप्य) कहा, तथा गुण रूप ही वस्तु को अगुण (निर्गुण) समझा, सो भी नहीं दीख पड़ा तब हार कर बेचून कहा इत्यादि ॥ ८ ॥

बेचूने जग राचिया, साहब नूर निनार।
आखिर केरे बखत को, का को करैं दीदार ॥ ९ ॥

नीरञ्जन नर जपत हैं, तिनकी तो गति नाहिं।
घुघुर होयगा बापुरा, तिनको सझै नाहिं ॥ १० ॥

अधर झलक्कै शून्य में, दीपक कीसी लोय।
कहैं कबीर कर्ता नहीं, याते कछू न होय ॥ ११ ॥

तीन लोक जप राम को, जानि मुक्ति को धाम।
राम वसिष्ठ जु गुरु कियो, काह सुनायो नाम ॥ १२ ॥

बेचून ही जगत को राचा (समारा) है, उस साहब का नूर (प्रकाश) निनार (न्यारा) असंग है। वह संसार के आखिर (अन्त) की वस्तु है। फिर दूसरा किस का दिदार (दर्शन) किया जाय ॥ ९ ॥ न्यारा नूर को समझने बिना मनुष्य निरञ्जन के नाम जपते हैं, तिन की भी गति नहीं होती है, वह बावरा (अज्ञानी) घुघुर (जन्तु विशेष) होगा क्योंकि वे निरञ्जन को जपते हैं, और पास में ही निरञ्जन है सो उन्हें सूझता नहीं है ॥१०॥ दीपक के समान ज्योतिरूप लोय (प्रकाश) अधर के शून्य (ब्रह्माण्ड) में झलकता है, वह भी कर्ता नहीं है, न इससे कुछ होता है ॥ ११ ॥ तीनों लोक दशरथापत्य राम को जपते है और समझते हैं कि यही मुक्ति के धाम हैं, परन्तु समझना चाहिये कि रामजी भी वसिष्ठजी को गुरु किये तो उनको कौन नाम सुनाया गया ॥ १२ ॥

जग में चारो राम है, तीन राम व्यवहार।
एक नाम निज सार है, ता कर करो विचार ॥ १३ ॥

प्रथम हि शालिगराम है, दूजे परसूराम।
तीजे राजाराम है, चौथे आतमराम ॥ १४ ॥

साहेब दयावन्त है, जाके क्रोध न काम।
तीनो लोक परलय किया, श्री कृष्ण और राम ॥ १५ ॥

जाकी थापी मांड़ है, ताकी करहू सेव।
जो थापा है मांड का, सो नहि हमरा देव। १६ ॥

संसार में चार राम हैं, तिन में तीन व्यवहारिक हैं, एक नित्य सार स्वरूप नाम (राम) है उस एक का विचार करो ॥ १३ ॥ प्रथम शालिग्रामादि मूर्ति रूप है, दूसरा परसूराम है, तीसरा राजाराम हैं, और चौथा आतमराम हैं ॥ १४ ॥ आतम राम साहब दयावान् हैं, जिनमें काम क्रोध नहीं है, श्रीकृष्ण और श्रीराम तो तीनों लोक को प्रलय किया है ॥ १५ ॥ जिसकी माया से थापी (स्थिर की हुई) यह मांड विस्तार है, उसकी सेवा (भक्ति) करो, और जो मांड का थापा है, संसार से सिद्ध हुआ है इसमें जन्मा है, सो हमारा देव नहीं है। क्योंकि 'स कारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः।' श्वेता ६। ६, वह कारण है, और करण के स्वामियों का स्वामी है उसका कोई पिता स्वामी नहीं है ॥ १६ ॥

निवल सवल जो जानिके, नाम धरा जगदीश।
कहैं कविर जनमे मरे, ताहि धरूं नहिं शीस ॥ १७ ॥

जनम मरन से रहित है, मेरा साहब सोय।
बलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सब कोय ॥ १८ ॥

समुद्र पाटि लंका गये, सीता के भरतार।
ताहि अगस्त अचै गये, इन में को करतार ॥ १९ ॥

गिरिवर धार्यो कृष्णजी, द्रोनागिरि हनुमन्त।
शेषनाग धरनी धरी, इन में को भगवन्त ॥ २० ॥

चार भुजा के भजन में, भूलि परे सब सन्त।
कबीर सुमिरै तासु को, जाके भुजा अनन्त ॥ २१ ॥

निर्बल सबल जान कर जो सबल का जगदीश नाम धरा गया है, वह जो जन्मता मरता है, उसको शिरोधार्य नहीं करूंगा ॥ १७ ॥ सब को सिरजा उसकी बलिहारी है, वही जगदीश है ॥ १८ ॥ पाटि के (बांध कर भरकर), उस समुद्र को अगस्तजी अचै (पी) गये, तो अगस्त और राम में कौन कर्ता है ॥ १९ ॥ गिरिवर (गोवर्धन पर्वत) ॥ २० ॥ चार भुजा वाले विष्णु भगवान के भजन में सब संत आसक्त हैं। सब प्राणी के भुजा जिसके भुजा हैं उस सर्वात्मा को कबीर (ज्ञानी) भजते हैं ॥ २१ ॥

संपुट माहिं समाइया, सो साहब नहिं होय।
सकल मांड में रमि रहा, मेरा साहब सोय ॥ २२ ॥

है निराला मांडते, सकलमांड़ तिहि माहिं।
कबीर सेवैं तासु को, दूजा सेवै नाहिं ॥ २३ ॥
नीव विहना देहरा, देह विहना देव।
तहाँ कबीरा बन्दगी, अलख पुरुष की सेव ॥ २४ ॥
जाके मुख माथा नहीं, नाही रूप अरूप।
पुष्प बास ते पातला, ऐसा तत्त्व अनूप ॥ २५ ॥

संपुट (गर्भादि के मध्य) में जो समाया सो कर्ता साहब नहीं हो सकता है सब विस्तार में जो साक्षी स्वरूप से सदा रम रहा है सोई मेरा साहब है ॥ २२ ॥ असंग होने से सब संसार से निराला (पृथक-अलिप्त) है सब मांड उसी में कल्पित है। ज्ञानी उसी को सेवते हैं, दूसरे को नहीं सेवते ॥ २३ ॥ नीव (मूल) रहित प्रकृतिरूप जिसके देहरा (मन्दिर) है, और देह रहित सर्वात्मा देव है। हे जीव! वहाँ बंदगी करो, और उसी अलख पुरुष को सेवो ॥ २४ ॥ जिसके मुख शिरादि कोई अवयव नहीं हैं, और रूप अरूप जाय नहीं बोली। बीजक रमैनी ७७ इत्यादि के अनुसार जो रूपवान या अरूप नहीं कहा जा सकता, पुष्प गन्ध से भी सूक्ष्म है, ऐसा वह अनूप अलख सर्वात्म देव रूप तत्त्व है ॥ २५ ॥

साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहब जो कहूं, साहब खरा रिसाय ॥ २६ ॥

सुन्न मरे अजपा मरे, अनहद भी मरि जाय।
नाम सनेही ना मरें, रहैं कबीर समाय ॥ २७ ॥

नाम नाम सब कोइ कहैं, नाम न चीन्है कोय।
आतम रूपी नाद है, तत पहिचाने सोय ॥ २८ ॥

मेरा आत्म स्वरूप जन्मादि रहित साहब एक है, दूसरा साहब नहीं कहा जा सकता, यदि दूजा साहब कहूँ तो खरा (सत्य) सद्गुरु रूप साहब रुष्ट होते हैं ॥ २६ ॥ महाशून्य का उपासक मरन पाता है, तथा शून्य का भी लय होता है, अजपा जपने वाला अजपा सहित मरता है, अनहद भी लुप्त होता है। परंतु नाम (राम) के प्रेमी नहीं मरता हैं, नाम में समा कर मोक्ष पर्यन्त स्थिर रहता है ॥ २७ ॥ जिस नाम में समा कर रहता है, उसकी बात सब करते हैं, परंतु नाम को कोइ चीन्हता नहीं है, शरीर की स्थिति काल में आत्मस्वरूप जो नाद है, सो नाम है, और तत्त्वको समझने पर तत्त्व स्वरूप ही नाम हैं, अर्थात् आत्मा में नाम कल्पित है, और कल्पित वस्तु अधिष्ठान रूप ही ज्ञानावस्था में निश्चित होता है इत्यादि ॥ २८ ॥

एक राम दशरथ घर डोलें, एक राम घट घटमें बोलें।
एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा ॥ २९ ॥

आकार राम दशरथ घर डोलै, निराकार घट घट में बोलै।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सबही से न्यारा ॥ ३० ॥

आकार (शरीरी), निराकार (स्थूल से पर प्राणी), बिन्दु (चिदचिद् ग्रन्थि चिदाभास युक्त माया), निरालम्ब (निर्गुण) ॥ २९, ३० ॥

॥ इति निजकर्ता पिवपिछानका अंग ॥

अथ विश्वास का अंग ॥ ५२ ॥

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाड़ा गढिया मुख दिया, सोई पूरण योग ॥ १ ॥
रचनहार को चीन्ह कर, खावे को क्या रोय।
दिल मन्दिर में पैसि के तानि पिछौरा सोय ॥ २ ॥
राम नाम कर मोहड़ा, बोया बीज अघाय।
सर्व लोक सूखा पड़ै, तऊ न निष्फल जाय ॥ ३ ॥
चिन्तामणि चित्त में बसै, सोई चित्तमें आनि।
विनु चिन्ता चिन्ता करै, यही प्रभु की बानि ॥ ४ ॥

भूखा २ क्या करता है लोगों को क्या दुःख सुनाता है, जिसने देह रूप भांडा को गढा और मुख दिया वही पूर्ण योग (उपाय) करेगा, और पुरा करने लायक है ॥ १ ॥ रचयिता को समझ कर खाने को क्या रोता है, हृदय रूप मंदिर में पैठ कर, संतोष दुपट्टा ओढ कर सोओ ॥ २ ॥ राम नाम को मोहडा (याद मुख में) करो, और समझो कि खेत में अघाय (पूर्ण) बीज बोया है, पूष्ट बीज बोया है, इसीसे अघायेंगें तृप्त होंगें, फिर चाहे सब लोक में सूखा पडेगा, तो भी यह बीज निष्फल नहीं जायेगा ॥ ३ ॥ राम स्वरूप चितामणि चित्त में ही बसता है, उसका ध्यान तुम चित्त में आनो, उसे चित्त में समझो, फिर तेरी चिंता बिना ही वह स्वयं तेरे लिये चिंता करेगा, उस प्रभु का यही स्वभाव है ॥ ४ ॥

कबीर क्या मैं चिन्तवौं, मम चिन्ता क्या होय।
अपनी[1] चिन्ता हरि करै, चिन्ता मोहि न कोय ॥ ५ ॥

कर्म करीमा लिखि रहा, अब कछु लिखा न होय।
मासा घटै न तिल बढै, जा शिर पटकै कोय ॥ ६ ॥

---

१ मेरी।

कर्म करीमाँ लिखि रहा, नर शिर भाग अभाग।
जो कबहू चिन्ता करै, तौ[1] वह आगे आग ॥ ७ ॥

चिन्ता न कर निश्चिन्त रह, देनिहार समरथ्थ।
पशू पखेरू जन्तु जिव, तिनकी गांठि न गथ्थ[2] ॥ ८ ॥

समझना चाहिए कि मैं क्या चिन्ता करुं, और मेरी चिन्ता से होगा क्या, अपनी चिन्ता तो हरि करते ही हैं, फिर मुझे कोई चिन्ता नहीं है ॥ ५ ॥ करीमाँ (कर्ता) प्रारब्ध कर्म लिख रहा (निश्चित कर चुका) है। अब कुछ लिखा नहीं जा सकता, और लिखे में न मासा भर घट सकता है न तिल भर वढ़ सकता है, चाहे सिर भी कोई पटके तो क्या ॥ ६ ॥ कर्म के अनुसार नर के शिर में भाग्य अभाग्य भी लिखा चुका है, यदि कभी चिन्ता भी करेगा, तो वही आगे-आगे आयेगा ॥ ७ ॥ इसलिये चिन्वा नहीं करके निश्चिंत रहो, देने वाला तो सामर्थ्य वाला प्रभु है ही, पशु पक्षी और कीट पतंगादि जो जीव हैं, तिनकी गांठ में तो कोई गथ्थ (द्रव्यादि) नहीं है, तिनका भी पोषण प्रभू करता ही है ॥ ८ ॥

हरिजन गांठि न बांधई, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़ा, जब मांगे तव देय ॥ ९ ॥

अंडा पालै काछवी, विनु थन राखै पोख।
यों कर्ता सब की करै, पालै तिनहुँ लोक ॥ १० ॥

पौ फाटी पगरा हुआ, जागै जीवा जून।
सब काहू को देत हैं, चोंच समाना चून ॥ ११ ॥

राम नाम सो दिल मिला, यम सो परा दुराय।
सबहि भरोसा इष्ट का, बन्दा नरक न जाय ॥ १२ ॥

---

१ तऊ न। २ द्रव्य। पा० ॥

भक्तजन मांग कर गांठ नहीं बाँधते हैं, उदर पूर्ति भर के लेते हैं, उसके योग क्षेम कर्ता हरि सर्वत्र वर्तमान है, सोई जरूरत पड़ने पर देते हैं ।। ९ ।। कच्छपी अपने अंडों को पालती है, तहाँ स्तन बिना ही ध्यान रूप पोख (पोषण) रखती हैं । इसी प्रकार कर्ता सब की रक्षा करता है, और तीनों लोक को पालता है ।। १० ।। पौ फाटी (अन्धकार दूर हुआ) और पगरा (प्रकाश) हुआ, सब जीवजन्तु जागे, तब सब किसी को चोंच में समाने योग्य चून (खाना) कर्ता देता है ।। ११ ।। ऐसा समझ कर जिसका मन रामनाम से मिला उसको यम से दूरता पड़ गई, और उसको इष्ट का ही सब भरोसा रहने से वह बन्दा (भक्त) नरक में नहीं जाता है (मोहि भरोसा) पाठान्तर है ।। १२ ।।

जाके मन परतीति है, सदा गुरू है संग ।
कोटि काल झकझोलई, तऊ न हो मन भंग ।। १३ ।।

खोज पकरि बिश्वास गह, धनी मिलैगें आय ।
अजया गज मस्तक चढी, निरभय कोंपल खाय ।। १४ ।।

पशु तार्यों पक्षी तरा, तारा दादुर नेह ।
तूं क्यों झुरवै मानवा, धरि मानुष की देह ।। १५ ।।

सब ते भली मधूकरी, भांति भांति का नाज ।
दावा काहू का नही, बिनु दावा बड राज ।। १६ ।।

जिसके मन में परतीति (विश्वास) है, उसके संग में ही सदा पथ प्रदर्शक गुरु हैं । चाहे करोडों दुष्काल उसे झकझोरता (कष्ट देता) है, तो भी उसका मन भंग (कुपथगामी) नहीं होता है ।। १३ ।। खोज (मार्ग) पकड़ के विश्वास को गहो तो धनी (प्रभु) आकर मिलेंगे । अजा (बकरी) भी सिंह के प्रताप विश्वास से हाथी के मस्तक पर चढ़ कर कोपल (कोमल पत्र खा सकती है । गुरु प्रताप से मन्द बुद्धि भी काल चक्रसे आगे के फल

पाती है ॥ १४ ॥ पशु पक्षी आदि को भी दुःख से नेह (भक्ति) द्वारा तारा है, तुम मनुष्य का देह धरके भी क्यों झुरते (झखते-सुखते) हो ॥ १५ ॥ नाज (अन्न) जिसमें अनेक प्रकार के रहते है सो मधूकरी भिक्षा सबसे भली है जिसमें किसी का दावा (दखल) भी नहीं, और विना दावा के ही राज्य सुख रहता है। १६ ॥

मान महातम प्रेम रस, गरुआपन गुण नेह।
ये सबही अहला गये, जबहि कहा कछु देह ॥ १७ ॥

मांगन मरन समान है, बिरला बांचै कोहि।
कहैं कबीर रघुनाथ सो, मति रे मँगाउ मोहि ॥ १८ ॥

पांडर[1] पिंजर मन भँवर, अर्थ अनूपम बास।
रामनाम सींचा अमी, फल लागा विश्वास ॥ १९ ।

पद गावै लौलीन ह्वै, कटै न संशय फांस।
सबै पछोरा थोथरा, एक विना विश्वास ॥ २० ॥

मान (प्रतिष्ठा) महत्व, प्रेम, रस (आनन्द) गुरुत्व, गुण, और स्नेह ये सब तभी अहला (अलहदा-पृथक) गये कि जब कुछ दो ऐसा कहा ॥ १७ ॥ यद्यपि मागन मरना तुल्य है. तथापि इससे बिरला कोई बचता है, रघुनाथ (राम) से कहता हूँ कि मुझे मगावो नहीं ॥ १८ ॥ देह पांडर (चमेली विशेष) है, उस में मन भँवर है, उस देह मन में साक्षी स्वरूप अर्थ है, (सोई उत्तम सुगन्ध है) उस देह में रामनाम अमृत के सिंचने से विश्वास रूप फल लगता है ॥ १९ ॥ विश्वास बिना यदि लौलीन (प्रेम मग्न) होकर पद गाता है तो उससे संशय रूप यम का बन्धन नहीं कटता है, इससे एक विश्वास बिना सबही पछोरी (अध्ययनबिचार) थोथरा (व्यर्थ) हैं ॥ २० ॥

१ पाण्डर श्वेत का वाचक है, इससे कुन्दादि भी अर्थ हो सकता है ॥

जाके दिल में हरि वसै, सो जन कल्पै काहि।
एके लहरि समुद्र की, दुख दरिद्र बहि जाहि। २१ ॥

गावन ही में रोवना, रोवन ही में राग।
एक बनहि में घर करै, एक घरहि बैराग ॥ २२ ॥

गाया तिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर।
जिन गाया विश्वास गहि, ताको सदा हजूर ॥ २३ ॥

घट में जोति अनूप है, रिजक मौत जिव साथ।
कहा सार है मनुष का, कलम धनी के हाथ ॥ २४ ॥

जिस जन के मन में हरि बसते हैं, सो क्यों कल्पना करता है, हरिरूप आनन्द समुद्र की एक लहरि में सब दुःख दरिद्रता बह जाते हैं ॥ २१ ॥ कर्तव्य यह है कि हरि के गाने में ही रोना चाहिये, और रोने में राग (प्रेम) चाहिये. ऐसा करने से एक भक्त बन में ही घर का आनन्द करता है, और एक घर ही में बैराग करता है, अर्थात् 'मन हाथ भये जिन के तिन के, घर ही वन है बन ही घर है' ॥ २२ ॥ केवल गाने वाला भी हरि को नहीं पाया, नहीं गाने से तो हरि दूर बसते हैं, जिन्होंने विश्वास गह कर गाया तिन को हरि सदा हजूर हैं ॥ २३ ॥ वह सर्वात्मा हरि रूप ज्योति घट ही में है, उपमा रहित है, रिजक (जीविका) मृत्यु भी जीव के साथ हैं, मनुष्य का सार (बल) क्या है, क्योंकि धनी (हरि) के हाथ कलम (सब कर्तव्य) है ॥ २४ ॥

आगे पीछे हरि खड़ा, आप सहारे भार।
जन को दुःखी क्यों करै, समरथ सिरजनहार ॥ २५ ॥

कबीर सब जग निर्धना, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सो जानिये, रामनाम धन होय ॥ २६ ॥

सांई दीया सहज में, सोई रिजक हलाल।
हैवाँ सबै हराम है, तजि संशय जिय साल ।। २७ ।।

विश्वासी ह्वै हरि भजै, लोहा कञ्चन होय।
राम भजन अनुराग से, हर्ष शोक नहिं दोय ।। २८ ।।

भक्तों के आगे पीछे हरि खड़ा है, और आप सब भार संभारता सहता है, सामर्थ्यवाला कर्ता जन को क्यों दुखी करेगा ।। २५ ।। निर्धन दरिद्र ।। २६ ।। सहज (न्यायवृत्ति) में जो ईश्वर जीविका दिया, सोई हलाल (पाक-पवित्र) है और सब हैवाँ (अन्याय वृत्ति बल से लेना) हराम (अपवित्र) है। सो जीव के साल (पीडा शूल) रूप है, इसमें सशय नहीं है, संशय त्याग कर उसे जीव का साल समझो ।। २७ ।। विश्वासी होकर हरि को भजे तो लोहा तुल्य तामस जीव कञ्चन तुल्य सात्त्विक दास ज्ञानी होय, और राम भजन में अनुराग होने से हर्ष शोकाकि द्वन्द्व नहीं व्यापते हैं ।। २८ ।।

डोरी लागी भय गया, मन पाया विश्राम।
चित्त चहूंटा राम सो, सोई केवल धाम ।। २९ ।।

सौदा कीजै राम सों, भरिये गून हलाय।
जो कबहूँ टांडा लुटै, पूँजी विलय न जाय ।। ३० ।।

जिस को हरि से डोरी (सम्बंध-प्रीति) लगी, उसका भय गया, और मन विश्राम (शांति) पाया राम से जब चित्त चहुँटा (लगा) तब वह राम ही केवल (कैवल्य-मोक्ष) का धाम हो गया ।। २९ ।। इसलिये सद्गुरु सत्सगादि हाट में राम ऐसा प्रसिद्ध सौदा करो (लो) और मन बुद्धि रूप गून (गोण-बोरा) में हिला कर भरो, पूर्ण निश्चय विश्वास करो, कि जिससे टांडा (लदना बैल समूह) तुल्य इन्द्रियाँ विषय चोर से लुटे भी जायँ तो भी हृदयगत पूंजी विलय नहीं जाय ।। ३० ।।

इति विश्वास का अंग ।।

अथ धीरज का अंग ॥ ५३ ॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रितु आये फल होय ॥ १ ॥

कवीर तूं काहे डरं, सिर पर सिरजनहार।
हाथी चढि कर डोलिये, कूकर भुसै हजार ॥ २ ॥

कवीर बेरे नैठि के, भौचक मना न जाय।
बूडन का भय छाड़ि दे, कर्ता करैं सहाय ॥ ३ ॥

हस्ती चढिये ज्ञान के, सहज दोलैचा डार।
स्वान रूप संसार है, भूसन दे झखमार ॥ ४ ॥

धीरा ह्वै धमका सहै, ज्यों अहरन शिर घाव।
मेघा परवत ह्वै रहो, इत उत कहूँ न जाव ॥ ५ ॥

रे मन धीरे २ सब कार्य फल होता है, चाहें सैकड़ों घड़ा जल माली सींचता है, परन्तु ऋतु आने ही पर फल होता है ॥ १ ॥ ज्ञानादि रूप हाथी पर चढ़ कर विचरो ॥ २ ॥ विवेकादि बेरे (नौका) में बैठ कर भवचक्र (भ्रम) में नहीं जाओ ॥ ३ ॥ सहज धारणा रूप दोलैचा (कालीन) ॥ ४ ॥ धैर्य युक्त होकर संसार का धमक (चोट) को सहे, जैसे नहाय शिर पर घाव सहता है, और मेघ के बुंद को जैसे पर्वत सहता है, तैसा हो रहे, इधर उधर कहीं नहीं जाय ॥ ५ ॥

इति धीरज का अंग ॥

अथ विराग का अंग ॥ ५४ ॥

कपास विनठा कापडा, कबहि सुरंग न होय।
कबीर त्यागो ज्ञान करी, कनक कामिनी दोय ॥ १ ॥

कबीर चित चेतन करी, जागि न देखो मीत ।
कित कित केसल[1] पारिये, गलवल[2] सहर अनीत ॥ २ ॥

बाजन दे बाजन्तरी, कलियन्त्री ना छेड़ ।
तुझे बिरानी क्या परी, अपनी आप निबेर ॥ ३ ॥

जाता है सो जान दे, तेरी दसी न जाय ।
दरिया केरे नाव ज्यों, घना मिलेगें आय ॥ ४ ॥

विनठा (विनष्ठ) कपास का कपडा जैसे कभी सुन्दर नहीं होता, तैसे नष्टा (माया) का कार्य सुरंग नहीं होता, ऐसा ज्ञान करके कनक कामिनी दोनों को त्यागो ॥ १ ॥ हे मित्र ! चित्त को चेतन (सावधान) करके जाग कर देखो न, कहां २ केसल पारें (पुकारे) संसार सहर गडबड और अनित्य है ॥ २ ॥ बाजन्तरी (बाजावाला देहाभिमानी) को बाजने (बोलने) दो, कलि के यन्त्री (देही) को नही छेंड़ो, तुझे अन्य की बात से क्या मतलब है, अपनी निबेरा आप करो ॥ ३ ॥ जो जाता है, उसे जाने दो, तेरी दसी (धागा) भी नहीं जायगा, और नदी के नाव पर के समान फिर बहुत साथी आ कर मिलेगें ॥ ४ ॥

कबीर हमारा कोइ नहीं, हम काहूं के नाहिं ।
पार पहूंची नाव ज्यों, मिलकर विछुड़ा जाहिं ॥ ५ ॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
कोई काहू का नहीं, देखा टोये टाय ॥ ६ ॥

नीर पिलावत क्या फिरै, घर घर सायर वारि ।
तृषावन्त जो होयगा, पीवैगा झखमारि ॥ ७ ॥

---

१ मेल प्रेम कहां २ करावे, अनित्य सहर मैं गलबल (विवाद) होता ही रहता है, इत्यादि भाव है ।

कबीर सब जग देखिया, मेलेउ कंध चढ़ाय।
कोई[1] किसही का नहीं, देखा ठोक बजाय ॥ ८ ॥

समझो कि हमारा कोई नहीं है और हम भी किसी के नहीं हैं, जैसे नाव पर सब मिलते हैं, नाव के पार पहुँचने पर बिछुरते हैं, ऐसा ही संसार का मिलना बिछुडना है ॥ ५ ॥ देह सराय है, इस में मन पहरू रक्षक है, मनोरथ इसमें आ कर उतरा है, और है कोई किसी का नहीं, सो टोय टाय कर देख लिया है ॥ ६ ॥ विषयादि नीर पिलाते भी क्या फिरते हो, संसार समुद्र के वारि तो घर २ में स्वयं वासनादि रूप से वर्तमान है, जो तृषावाला होगा, सो स्वयं झखमार कर पीवेगा ॥ ७ ॥ सब संसार को देखा कांधे पर चढा कर मिला मिलाया, परन्तु कोई किसी का नहीं है, इस बात को ठोक बजा कर देख लिया है ॥ ८ ॥

मैं दुनियाँ का कछु नहीं, मेरे दुनी अकथ्थ।
साहब देखो सब खड़ा, दुनियाँ दोजख जथ्थ ॥ ९ ॥

झूठा सब संसार है, कोइ न अपना मीत।
जान जु पावै हरि भजे, चलै स भवजल जीत ॥१०॥

निसरा पै विसरा नहीं, तो निसराना काहि।
पहिले खाय उखालिया, सो फिर खाना नाहि ॥ ११॥

जो विभूति साधुन तजी, ताहि मूढ लपटाय।
ज्यों वमन करि डारिया, श्वान स्वाद करि खाय ॥१२॥

मैं संसारी का कोई सम्बन्धी नहीं हूँ, और संसार भी मेरे अकथ्य (कहाने योग नहीं) हैं, क्योंकि संसारी नरक में जा रहा है, सो सब तमासा साहब खडा देख रहा है ॥ ९ ॥ सब संसार झूठा है, इससे अपना मित्र कोई नहीं है इस प्रकार जो समझ (ज्ञान) पावै, और हरि को भजे,

[1] हरि बिनु अपना कोइ नहीं ॥ पा० ॥

सो संसार जल को जीत कर पार चल सकता है ॥ १० ॥ जो ऐसा समझने बिना ही गृहादि से निसरा (निकला) परन्तु उसे बिसरा (भूला) नहीं, तो निसारना (निकलना) किस काम का है, पहले खाये अन्न को उखाल (उबाल) करके फिर वह खाना उचित नहीं है ॥ ११ ॥ जिस अनित्य पापार्जितादि विभूति को सन्तों ने तजी, उस में भी मूढ लिपटते हैं ॥ १२ ॥

राम बिना बेकाम है, छप्पन भोग विलास ।
कहाँ इन्द्र को बैठनो, कहं वैकुण्ठ निवास ॥ १३ ॥

मन फाटे चित ऊचटे, नैना नाहि समाय ।
पलकों की टाटी दई, टेढा टेढा जाय ॥ १४ ॥

बड़ा बडाई ना तजै, छोटा बहु इतराय ।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढा टेढा जाय ॥ १५ ॥

मन मानिक जब ऊचटै, नेक नहीं ठहराय ।
जो कञ्चन की भूमि ह्वै, हरियल धरै न पाँय ॥ १६ ॥

धरती फाटै मेघजल, कपडा फाटै डोर ।
तन फाटे की औषधी, मन फाटे नहीं ठौर ॥ १७ ॥

राम भजनादि के विना छप्पन भोग आनन्दादि बेकाम हैं इन्द्र के बैठक (नन्दनादि) और बैकुण्ठ का निवास भी राम विना किस काम के हैं ॥ १३ ॥ इन विभूतियों करके जिसका मन राम से फटा है चित्त चञ्चल हुआ है, उसके नैन (बुद्धि) में राम नहीं समाते हैं इससे राम के तरफ पलकों के टाटी देकर टेढ़ा २ मार्ग में जाता है ॥ १४ ॥ बड़ा पुरुष अपनी बड़ाई आप नहीं करता, छोटा वहुत इतराता (अगराता) है, जैसे सतरंज में यदि प्यादा फरजी (वजीर) हुआ तो टेढा २ जाता है ॥ १५ ॥ मन जब मानिक (रत्नरूप राम) से उचटता है (भागता) है, तो नेक (तनिक) भी नहीं ठहरता है । जैसे कञ्चन की भी यदि भूमि हो तो उसमें

हरियल पक्षी पांव नही धरता है ॥ १६ ॥ भूमि आदि के फटने पर मेघ के जलादि जूटने के साधन है, परन्तु राम से मनके फटने पर कोई ठौर नहीं है, कि जहां मन स्थिर शान्त सुखी हो सके ॥ १७ ॥

मेरे मन महँ पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक पषाण ज्यों, मिलै न दूजी बार ॥ १८ ।

मन फाटा वायक बुरा, मिटी सगाई साक।
जैसे दूध तिवास को, उलट हुआ ज्यों आक ॥ १९ ॥

चन्दन भांगा गुन करै, जैसे चोली पान।
दोय जु भांगा ना मिलै, इक मोती इक मान ॥ २० ॥

मोती भांग्यो बेधता, मन भांग्यो कूबोल।
बहुत सयाना पचि गया, परि गइ गांठ जु गोल ॥ २१ ॥

मेरे मन में तो संसार से एक ऐसी दरार (फाट-भेद) पर गई कि जिससे स्फटिक पाषाण तुल्य फाटा है, दूसरी बार कभी मिल नहीं सकता है ॥ १८॥ संसार के बुरा वायक (वचनों) से मन फटा कि जिससे सगाई (संबन्ध) की साक (इच्छा-सौक) भी मिट गई, जैसे तिवास का (थूहर का) दूध फिर उलट कर आंक का दूध हुआ हो, तैसा संसार मेरे मन के लिये हुआ है ॥ १९ ॥ भांगा हुआ चन्दन और चोली पान जैसे भांगा हुआ गुण करता है, तैसे संसार से विरक्त मन गुण करता है, और मोती तथा मान जैसे भांगा हुआ नहीं जूटता है, तैसे वस्तुतः विरक्त मन संसारासक्त नहीं होता है ॥ २० ॥ बेधने में जैसे मोती भग्न हुआ, तैसे कुबोल से जो मन भग्न हुआ उसे जोड़ने के लिये कितने चतुर पच मुये परन्तु नहीं जुटा, गोल गांठ पर गया, विरक्त को आत्मनिश्चय हो गया ॥ २१ ॥

वैरागी विरक्त भला, गिरा परा फल खाय।
सरिता का पानी पिये, गृही द्वार नहीं जाय ॥ २२ ॥

गिरही द्वारे जाय के, उदर समाना लेइ।
पीछे लागे हरि फिरें, जब चाहे तब देइ॥ २३॥

विराग के वेषधारी को विरक्त होना भला है, वह गिर कर पड़ा हुआ फल खाय और नदीका जल पिये, गृहस्थ के दरवाजे पर भी नहीं जाय। २२॥ फल नहीं मिलने पर गृहस्थ द्वार पर जाय कर उदर पूर्ति भरके लिए अन्न लेवे, संग्रह नहीं करें, क्योंकि विश्वंभर हरि आगे पीछे फिरते हैं, मांगने पर देंगे॥ २३॥

इति विराग का अंग॥

—:०:—

अथ समरथ का अंग॥ ५५॥

ना कछु किया न करि सका, न करन योग शरीर।
जो कछु किया सो हरि किया, भया कबीर कबीर॥ १॥

कीया कछु नहिं होत है, अन कीया ही होय।
कीया जो कछु होत तो, कर्ता औरे कोय॥ २॥

जिस नहिं कोई तिसहि तूं, जिस तूं तिस सब कोय।
दरगह तेरी साइयाँ, मेटि न सक्के कोय॥ ३॥

एक खडा ही ना लहै, एक खडा विललाय।
समरथ मेरा साइयाँ, सूता देय जगाय॥ ४॥

न प्रथम कुछ किया, न अभी कर सका, न आगे करने योग्य शरीर रहा, उसका भी जो कुछ कर्तव्य रहा सो सब हरि किया कराया, परन्तु नाम कर्म बीर में उसका हुआ॥ १॥ किसीका किया कुछ नहीं होता है। मनुष्य के करने विना भी वृष्टि आदि शुभ अशुभ सब होते हैं, यदि किसीका किया कुछ होता तो दूसरा कोई कर्ता (ईश्वर) होता॥ २॥ जिसका कोई

भी सहायक नहीं है, उसका तुम सहायक हो, और जिसका तुम हो, उसका फिर सब कोई है, हे स्वामिन् तेरा दरगह (स्थान न्याय) को कोई भी मेट नहीं सकता है ॥ ३ ॥ एक किसी इष्ट वस्तु के लिये खडा रह कर यत्न करते रहने पर भी नहीं पाता है, एक खडा होकर उस इष्ट के लिये बिल-लाता (व्याकुल होता रोता) है और किसी सोये को समर्थ ईश्वर जगा कर देता है ॥ ४ ॥

ना कछु किया न करि सका, ना कछु करने योग ।
मैं मेरी जो थापि के, दूजी थापैं लोग ॥ ५ ॥

जो कछु किया सो तुम किया, मैं कछु कीया नाहिं ।
कहूं कहीं जो मैं किया, तुम ही थे मुझ माहिं ॥ ६ ॥

मेरा मुझ में कछु नहीं, जो कछु है सो तोर ।
तेरा तुझ को सौंपते, कहा जायगा मोर ॥ ७ ॥

अवगुन हारा गुन नहीं, मन का बडा कठोर ।
ऐसा समरथ साइयां, ताहि लगावै ठौर ॥ ८ ॥

कोई न कुछ किया, न कर सका न करने योग्य रहा, तो भी मैं मेरी जो अज्ञान है, उसे थापि (निश्चय) करके, दूसरी वस्तु की थापना लोग करते हैं ॥ ५ ॥ जो कुछ व्यवहारादि किया सो तुम ही अन्तर्यामी रूप से किया । मैं ने तो खास कुछ नहीं किया, यदि कहीं मैं मिथ्या ही कहता हूँ कि मैं किया, तो वहाँ भी तुम ही मुझ में कहाने वाले थे ॥ ६ ॥ इस लिये मुझ में मेरा कुछ है नहीं, जो कुछ बल बुद्धि आदि है, सो भी तेरा ही है । फिर तेरी वस्तु तुझ को सौंपने में भी मेरा क्या जायगा ॥ ७ ॥ जो अवगुण वाला रहा, जिसमें कोई गुण नहीं, रहा, मन का भी बडा कठोर था, सो भी जब सब तुम को अरपा तब तुम ऐसा समर्थ स्वामी हो कि उसे ठौर (निजस्वरूप) में लगाते हो (साइयाँ के सबगुरो) पाठान्तर है ॥ ८ ॥

तुम सो समरथ साइयाँ, दृढ करि पकरो बांहि।
धूरहि ले पहुँचाइयां, जनि छाड़ो मग मांहि ॥ ६ ॥

इत कूवाँ उत बावड़ी, इत उत थाह अथाह।
दहूँ दिशा फनि फन कढ़ै, समरथ पार निवाह ॥१०॥

समरथ धोरी कंध दे, रथ को दे पहुँचाय।
मारग माहिं न छाडिये, पिय बिनु विरद लजाय ॥११॥

हूँ अपराधी जन्म का, नख शिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भन्जना, मेरो करो सँभार ॥१२॥

तुम समर्थ साईं हो, दृढ करके बांह पकड़ो, और धूर (ध्रुव-नित्य अन्त) स्थान तक लेकर पहुँचाओ, मार्ग में नहीं छोड़ो ॥ ९ ॥ इधर संसार में गर्भादि रूप अन्ध कूप है। उधर नरकादि रूप वावली है इससे इत उत थाहने में अथाह (अपार) दीखता है, कालादि रूप फनी (सर्प) दशों दिशा में फन काढा (जीभ निकाला) है। इस अवस्था में हे समर्थ! आपही निवाहने (बचाने) वाला हो ॥ १० ॥ हे धोरी (निकटवर्ती या धुरंधर) कंध (सहायता) देकर देहादि रूप रथ को ठिकाने पहुँचा दो, मारग में नहीं छोडो, क्योंकि आप प्रभु बिना भक्तादि की बिरुद (यश आदि) लज्जित होती है ॥ ११ ॥ यद्यपि मैं (देहाभिमानी जीव) जन्म का अपराधी हूँ, क्योंकि अभिमान से नख शिख तक विकार भरा है, तथापि तुम दाता दुःखभंजन कर्ता हो इसलिये मेरा सँभार करो ॥ १२ ॥

बुरा जु देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपनो, मो सम बुरा न कोय ॥१३॥

कबीर सब ते हम बुरे, हम ते भल सब कोय।
जिन ऐसा कर बूझिया, मीत हमारा सोय ॥१४॥

धरता सब कागद करूं, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूं, हरि गुण लिखा न जाय ॥१५॥

[1]औरन को का वरनिये, मो पै बरनि न जाय।
अवरण वरण बाहीरा, करि करि थका उपाय ॥१६॥

मुझ में इतनि शक्ति कहँ, गावौं गला पसार।
बन्दा को इतनी घनी, पड़ा रहे दरबार ॥१७॥

देहाभिमान के रहते यदि मैं बुरा देखने चला तो कोई बुरा नहीं मिला, और यदि अपने मन में खोजा तो पता लगा कि मेरे तुल्य बुरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥ हम सबसे बुरे हैं, और हम से सब कोई भला है। जिन लोगों ने ऐसा समझा है, सो हमारा मीत (मित्र) है ॥ १४ ॥ ऐसी मति भक्ति आदि देनेवाला हरि के गुण अगम अपार है, किसी प्रकार भी सब नहीं लिखा जा सकता ॥ १५ ॥ अन्य की बात क्या कहूँ, मुझ से हरि गुण का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि उसे अवरण या वरण या वर्णावर्ण से बाहर किसी एक रूप नहीं कह सकते, इससे उसे कहने के लिये उपाय कर २ के थक गये। परन्तु कह नहीं सके ॥ १६ ॥ मुझ में इतनी शक्ति भी कहां कि जिससे गला पसार कर गुण गावें, बन्दा (भक्त) के लिये इतनी ही बात घनी (बहुत) है कि दरबार (शरण) में पडा रहे ॥ १७ ॥

कबीर मैं तो तब डरो, जो मुझ ही में होय।
मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू को जोय ॥१८॥

सात द्वीप नव खंड़ में, तीन लोक ब्रह्मण्ड।
कहैं कबिर सब को लगे, देह धरे का दण्ड ॥१९॥

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानि भुक्तै ज्ञान करि, मूरख भुक्ते रोय ॥२०॥

---

१ अवरन ॥ पा० ॥

धूत दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक विपरीत।
कहैं कबिर ये सब दुखी, सुखी सन्त मन जीत ॥ २१॥

शक्ति के अभाव दुःखादि से मैं तब डरुं कि यदि ये मुझ में ही होयँ, भीच (मृत्यु) बूढापन आपत्ति सब किसी को देखा गया है ॥ १८ ॥ सात द्विपादि में सर्वत्र सर्व को देह धरने का दंड (दुःखादि) लगता है ॥ १९ ॥ देह धरने का जो दण्ड है सो यद्यपि सबको होता है तथापि ज्ञानी ज्ञान करके धैर्य से भोगता है और मूर्ख रो कर भोगता है ॥ २० ॥ धूत (भर्त्सित ज्ञाति आदि से त्यक्त) अवधूत (भर्त्सना रहित पूजित) रंक (दरिद्र) उससे विपरीत धनी राजा आदि ये सब दुःखी हैं, जो मन को जीते हैं, ऐसे देहाभिमानादि रहित सन्त सुखी हैं ॥ २१ ॥

झल बायें झल दाहिने, झल ही में व्यवहार।
आगे पीछे झल बरे, राखे सिरजनहार ॥२२॥

साईं मेरा बानियां, सहज करै व्यापार।
बिनु डांडो बिनु पाळरे, तौलै सब संसार ॥२३॥

मोवासा सोई करै, दुर्जन काढै दूर।
राज पियारे राम के, सहर बसै भरपूर ।२४॥

बारी हरि के नाम पर, किया राई लौन।
जिसे चलावे पन्थ तूं, तिसे भुलावै कौन ॥२५॥

सब इसलिये दुःखी हैं कि बायें दाहिने (अशुभ शुभ) सब पदार्थ में झल (अग्नि का लपट ताप) है, और झल में ही सब व्यवहार है आगे पीछे सर्वत्र अग्नि जलती है, तो भी कर्मादि के अनुसार कर्ता रक्षा करता है ॥ २२ ॥ मेरा सांई मानो बानियाँ है, सो सहज (स्वभाव भूत माया) से व्यापार करता है, और दंडी पलरा (तराजू) बिना सब संसार को तौलता हैं ॥ २३ ॥ सोई मोवासा (ममता रक्षा) करता है, और दुर्जन

को दूर काढता (निकालता) है। संसार राज्य जिसके प्यारा है, उस राम के सहर भरपूर वसता है। २४ ॥ उस हरि के नाम पर वारी (आत्मार्पण) है कि जो राई और लौन को भी संसार के उपयोगी जान कर किया है, सो हरि जिसे सत्पन्थ में चलावेगा उसे भुला भी कौन सकता है ॥ २५ ॥

करनी बपुरी क्या करैं, राम न करै सहाय।
जिस जिस डाली पग धरै, सोई नय नय जाय ॥२६॥

साहव से सब होत है, वन्दे ते कछु नाहिं।
राई से परवत करै, परवत राई माहिं ॥२७॥

बहन बहन्ता थल करै, थल कर वहन बहोय।
साहव हाथ वड़ाइया, जस भावै तस होय ॥२८॥

धन धन साईं तूं बड़ा, तेरी अनुपम रीत।
सकल भुवन पति साइयाँ, ह्वै कर रहै अतीत ॥२९॥

जड़ करनी (क्रिया) बेचारी क्या कर सकती है, यदि राम सहायता नहीं करे, करनी वाला तो जिस २ डाली पर पैर देता है, सो २ राम कृपा बिना नय २ जाता है ॥ २६ ॥ इसलिये साहव से ही सब व्यवहारादि होता है, बन्दे (दास) से कुछ नहीं होता। वह साहव ही राई तुल्य बीज कारण से पर्वत तुल्य कार्य करता है, फिर पर्वत तुल्य को राई तुल्य के अन्दर लीन करता है ॥ २७ ॥ बहनशील बहन्ता नदी को वह थल करता है, और थल को वहन (धारा) बहाता है वही सांई सब भुवनों का पति है, जैसी उसकी भावना होती है, तैसा ही होकर रहता है ॥ २८ ॥ हे साईं ! तूं धन्य हो, तेरी रीति (चाल) उपमा रहित है कि जिससे सब भुवनों के पतियों के भी स्वामी होकर अतीत (विरक्त-असंग) रहते हो ॥ २९ ॥

साईं मैं तुझ बाहरा, कौडी हूं न बिकाउं।
जो शिर ऊपर तूं धनी, लाखों मोल कराउं ॥३०॥

हे स्वामी ! मैं (जीव) तुझ बाहरा (तेरे बिना) कौड़ी में भी नहीं बिकता हूँ (किसी प्रकार भी मेरा कोई गाहक नहीं है)। यदि धनी (समर्थ) तुम शिर उपर रहते हो, तेरी भक्ति ज्ञप्ति यदि रहती है, तो लाखों मोल कराता हूँ (सब का प्रिय अमूल्य होता हूँ)॥ ३० ॥

साहब तुम जनि बीसरो, लाख लोग मिलि जाहिं ।
हमसे तुमको बहुत हैं, तुम सम हमको नाहिं ॥ ३१ ॥

जो जाकी शरणै गहैं, ताको ताकी लाज ।
उलटि मीन जल चढ़त है, बह्यो जात गजराज ॥ ३२ ॥

मीन जल का शरण लिया है, इससे जल भी उसे सहायता करता है कि जिससे जल प्रवाह में उलटा चढता है ॥ ३१, ३२ ॥

इति समरथ का अंग ॥

अथ कुशब्द का अंग ॥ ५६ ॥

चोट सुहेली सेल की, पड़ता लेइ उसांस ।
चोट सहारै शब्द की, तासु गुरु मैं दास ॥ १ ॥

खांद खुन्द धरती सहै, काट कूट बनराय ।
कुशब्द तो साधु सहै, और हि सहा न जाय ॥ २ ॥

कबीर शीतलता भई, उपजा ब्रह्म ज्ञान ।
जिहि वैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान ॥ ३ ॥

शीतलता तब जानिये, समता रहै समाय ।
विष छाड़ै निर्विष रहै, सब दिन दूखा जाय ॥ ४ ॥

सेल (भाला) की चोट सुहेली (सहने योग्य) है, उसे लगने पर पड़ता (गिरता) है, परन्तु उच्छ्वास लेता है, उस स्वांस से भी रहित

शब्द की चोट जो सहता है, उसका गुरु और दास दोनों मैं हूँ ॥ १ ॥ कोड़ना खूंदना जैसे भूमि सहती है, काटना कूटना बनराज सहता है, तैसे कुशब्द को साधु सहता है, अन्य से नहीं सहा जाता ॥ २ ॥ क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के उपजने से साधु में शीतलता हो जाती है, इससे जिस कुशब्दादि वैसन्दर (अग्नि) से जग जलता है। सो फिर ज्ञानी के लिये उदक तुल्य होता है ॥ ३ ॥ शीतलता भी तभी समझना कि जब समता में समाया रहे, और क्रोध विषयादि विष को त्याग कर निर्विष रहे, चाहे सब दिन किसी से दुखाया जाता हो, तथा ऐसे रहने से सदा के लिए दुःख सब चले जाते हैं ।। ४ ॥

इति कुशब्द का अंग ॥

अथ सुशब्द का अंग ॥ ५७ ॥

कबीर शब्द शरीर में, बिनु गुन बाजै तांत।
बाहर भीतर रमि रहा, तातै छूटी भ्रान्त ॥ १ ॥
संत संतोषी सर्वदा, शब्द हि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सन्त मत धार ॥ २ ॥
सरसा सर जन बेधिया, सर बिनु गम कछु नाहिं।
लागी चोट जु शब्द की, करक करेजे माहिं ॥ ३ ॥
सारा बहुत पुकारिया, पीव पुकारै और।
लागी चोट जु शब्द की, रहा कबीरा ठौर ॥ ४ ॥

शब्द शरीर के अन्दर मानो बिना गुण (तार) के ही तांत (सितार) बजता है सो शब्द चिदचिद् रूप से बाहर भीतर रम रहा है, उसी सुशब्द द्वारा ज्ञान से भ्रम भी छुटता है ॥ १ ॥ सन्तोषी सन्त सदा शब्द से ही

भेद (विवेक) और विचार करते हैं सद्गुरु के प्रताप से सहज धारणा रूप सन्त मत का धारण करते हैं (सहज शील मतधार) पाठान्तर है ॥ २ ॥ सरसा (सानन्द-सद्गुरु) का सार (वचन) जिस जन को बेधा, उसको सर बिना अन्य का कुछ गम होश नहीं रहा, सद्गुरु के बचनार्थ में ध्यानावस्थ हो गया, क्यों कि जो शब्द की चोट लगी सो कलेजे (हृदय) में करकती (सावधान करती रहती) है ॥ ३ ॥ सद्गुरु ने सार[1] तत्त्व को बहुत प्रकार से पुकार करके कहा है, जिस को और लोग पीव कह कर पुकारते हैं, जिस को सार शब्द की चोट लगी सो जीव ठिकाने में स्थिर रहा। (पीर पुकारै और) पाठान्तर है ॥ ४ ॥

सायर माही सर गया, मच्छी काया सोय।
सो मच्छी तरुवर चढ़ी, बूझै बिरला कोय ॥ ५ ॥

जिहि सर मारी काल, सो सर मेरे मन बसा।
तिहि सर अजहू मार, बिनु सर पावो नहि रसा ॥ ६ ॥

पंखि उडानो गगन को, ऊडि चढ़यो असमान।
जिहि सर मंडल भेदिवो, सो सर लागा कान ॥ ७ ॥

लागी लागी क्या करै, लागी नहीं लगार।
लागी तब ही जानिये, निकसी जाय दुसार ॥ ८ ॥

सद्गुरु के शब्द लगने पर जीवरूप मच्छी का वह सब काया संसार समुद्र में सर गया (लीन हुआ) और वह मच्छी अकाय होकर ब्रह्मात्मावृक्ष पर चढी सो विरला कोई समझता है ॥ ५ ॥ समझने वाला सद्गुरु से प्रार्थना करता है कि जिस सर से काल (कल्ह) किसी जिज्ञासु को आपने मारा, तथा काल (मृत्यु भय) को नष्ट किया, वही सर मेरे मन में बसा है, अब भी मारो, उस सर के विना रस (प्रेम आनन्द) नहीं पा रहा हूं ॥ ६ ॥

---

१ राम इहे निज सारू। (बीजक ग्रन्थ)

जो पक्षी जीव गुरु से शब्द सर पाकर चिदाकाश ब्रह्माण्ड के तरफ उड़ा, सो आसमान में चढ़ गया, क्योंकि जिस सर से पञ्चकोशादि रूप मण्डल (परिधि-घेरा समूह) का भेदन करना है, सो सर उसे कान लग गया ॥ ७ ॥ शब्द का लगना भी तभी है कि जब लगार (निरन्तर प्रेम) लग जाय, जब तक लगार नहीं लगी तब तक लागि क्या, जब दूसरा असार (वस्तु) हृदय से निकल जावे, दो में सार (सत्य) बुद्धि नहीं रहे तब लागी समझो, कि जैसे बाण दूसरे तरफ से पार हो जाता है ॥ ८ ॥

बिनु सर और कमान बिनु, मारा है सो शीस।
बाहर घाव न दीसई, बेधा नख शिख शीस ॥ ९ ॥

शब्द हि मारा मरि गया, शब्द हि छाड़ा राज।
जिन यह शब्द सम्हारिया, सरिया तिनका काज ॥१०॥

बिजक बतावै वित्त को, जो धन गुप्ते होय।
शब्द बतावै जीव को, बूझै विरला कोय ॥११॥

शब्द कहै सो कीजिये, बहुतक गुरू लबार।
अपने अपने लोभ को, ठौर ठौर बटवार ॥१२॥

सो सद्गुरु सर धनुष के बिना शब्द से शिष्य को मारा है, इससे बाहर घाव (चिन्ह) नहीं दीखता है। परन्तु शिष्य के नख शिख तक बेधा है ॥ ९ ॥ शब्द के ही मार से शिष्य मर गया (जीवन्मृतक-अभिमान रहित हुआ) शब्द से ही राज्यादि छोड़ दिया, ऐसे शब्दों को जिन्होंने सम्हारा (ध्यान में लाया बिचारा) उनका प्रयोजन सिद्ध हुआ ॥ १० ॥ बीजक (बहि) जैसे जो गुप्त बित्त (धन) रहता है, उसको बताता है। तैसे सद्गुरु का शब्द जीव के स्वरूप ब्रह्मात्मा को बताता है। परन्तु विरला कोई अधिकारी पुरुष बूझता (समझता) है ॥ ११ ॥ उस स्वरूप को समझने के लिये जो साधन सद्गुरु का शब्द कहता है सो विचार सत्संग ध्यानादि

साधन करो, बहुत गुरु तो लबार (झूठे) भी हैं, अपने २ लोभ वश जगह जगह में बटवारी ठगी भी करते हैं ॥ १२ ॥

शब्द न करै मुलाहिजा, शब्द फिर चहुँ धार।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु शिष व्यवहार ॥१३॥

शब्द बाजा निःगम्य का, महक बजावै तूर।
सांचा शब्द जु एक है, जग उतपति का मूर ॥१४॥

शब्द हमार तु शब्द का, सुनि मति जाहु सरक्क।
जो चाहे निज तत्त्व को, शब्द हि लेहु परख्ख ॥१५॥

शब्द विना श्रुति आंधरी, ना जानो कहँ जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिरि भटका खाय ॥१६॥

औरे दारू सब करी, पै स्वभाव की नाहिं।
सो दारू सतगुरु करी, रहै शब्द के मांहि ॥१७॥

शब्द किसी की मुलाहिजा (लेहाज-मुखदेखी) नहीं करता है, परन्तु अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों धार में शब्द फिरता है, तहाँ जब अपने स्वरूप परतत्त्व को समझा, तब सच्चा गुरु शिष्य का व्यवहार है ॥ १३ ॥ अगम्य अविषय का बाजा रूप शब्द है, महक (सुगन्ध-सुयश) रूप तूर को बजाता है, सांचा शब्द एक ही है, अन्य तीन शब्द जगत में उत्पत्ति के मूल है ॥ १४ ॥ सांच शब्द सद्गुरु का है, जिज्ञासु उस का अधिकारी है, उसे सुन कर सरको नहीं, किन्तु जिस निज तत्त्व को चाहते हो, उसे शब्द से ही परखो ॥ १५ ॥ शब्द के बिना श्रुति (मनोवृत्ति बुद्धि) आंधरीं रहती है, पता नहीं कि कहाँ जायगी, शब्द के द्वार नहीं पाने से बार-बार धोखा खाती है ॥ १६ ॥ अन्य रोग की दारु (औषधि) सब किया है, परन्तु स्वभाव (प्रकृति) की नहीं की गई है, वह सद्गुरु ने की है, जो कि शब्द में रहती है ॥ १७ ॥

एक शब्द गुरुदेव का, जाका अनन्त विचार।
थाके पंडित मुनि जना, वेद न पावै पार ॥१८॥

मैं कलि का कुतवाल हूँ, लेहू शब्द हमार।
जो या शब्दहि मानि है, सो उतरै भवपार ॥१९॥

रैनि समानी भानु में, भानु अकाशे माहिं।
अकाश समाना शब्द में, शब्द परे कछु नाहिं ॥२०॥

खोजी हुआ शब्द का, धन्य सन्त हैं सोय।
कहैं कबिर गहि शब्द को, कबहु न जाय विगोय ॥२१॥

सीखै सुनै विचारि ले, ताहि शब्द सुख देय।
अनसमझा शब्दे कहै, कछू न लाहा लेय ॥२२॥

गुरुदेव का एक ओंकार शब्द है जिसका अनन्त वेद वचनादि रूप विचार है, तथा परा शब्द के अनन्त बिचार है, उस विचार में पंडित मुनि जन थके, और वेद भी पार नहीं पाता है ॥ १८ ॥ मैं गुरु कलि (अज्ञान-रात्रि) का कोतवाल हूँ, इसीलिये मेरा शब्द सुनो, जो इस शब्द को मानेगें सो मुक्त होंगे ॥ १९ ॥ क्योंकि गुरु शब्द के मानने पर मोहाज्ञानरूप रात्रि भानु (ज्ञान प्रकाश) में समाती है, और भानु चिदाकाश में स्थिर है, सो आकाश शब्द में समाया है (शब्द से गम्य है) तथा भूताकाश शब्द साक्षी में कल्पित है। इससे शब्द साक्षी से पर कुछ नहीं है ॥ २० ॥ सार शब्द को गहने पर भूल भ्रम स्वरूप च्युति से रहित हो जाता है ॥ २१ ॥ किसी से शिक्षा ले, श्रवण मनन करे, उसको शब्द सुख देता है, समझने बिना जो शब्द कहता है, सो कुछ लाहा (लाभ) नहीं लेता है ॥ २२ ॥

टीला टीली ढाहि के, फोरि करै मैदान।
समझ सफा करता चलै, सोइ शब्द निर्वान ॥२३॥

शब्दों का गुरु शब्द है, काया का गुरु काय।
भक्ति करो निष्कर्म ह्वै, सतगुरु यों समुझाय ॥२४॥

किन्तु जब लोक देहादि के अभिमानादि रूप टीला टीली (विषमता) को नष्ट करके और कामादि ढेले को फोर कर सम मैदान करे, विवेकादि रूप समझ से सदा साफ निर्मल करता चले तब वही शब्द निर्वाण स्वरूप होता है ॥ २३ ॥ शिष्य में होने वाले शब्दों का गुरु (पिता) गुरु का शब्द है, गुरु के शब्द से शिष्य में शब्द की स्फुरणा शक्ति होती है, और शिष्य की काया के गुरु (उपदेशक) गुरु की काया है, गुरु का दैहिक व्यवहार देखकर शिष्य व्यवहार करता है। आत्मा वस्तुतः गुरु शिष्य भाव से रहित असंग है। इसलिये निष्काम होकर भक्ति करो कि जिससे आत्मानुभव होवे, सतगुरु ने इस प्रकार समझाया है। (शब्द गुरु का शब्द है) पाटान्तर है ॥ २४ ॥

हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहै न मार।
आठ पहर चितवत रहै, गुरु का ज्ञान विचार ॥ २५ ॥
जाप मरै अजपा मरै, अनहद हूँ मरि जाय।
सुरत समानी शब्द में, ताको काल न खाय ॥ २६ ॥

उसी को हरिजन जानना चाहिये कि जो जिह्वा से भी मार ऐसा शब्द नहीं कहता है, और आठों पहर गुरु का ज्ञानप्रद शब्दादि को विचारता हुआ चितवत (ध्यान करता) रहता है ॥ २५ ॥ सकाम जपका फल नष्ट होता है, अजपा अभ्यास का फल विनश्वर है. अनहद नादाभ्यास का फल भी नष्ट होता है, परन्तु जिसकी सुरति (ध्यान) सार शब्द में लग कर आत्मनिष्ठ होती है उसी आत्मज्ञानी को जन्म मरणादि का भय नहीं रहता है वह जीवनमुक्त विदेहमुक्त होता है इसलिये गुरु के सार शब्द से आत्म परिचय करना चाहिये गुरु का सार शब्द ही श्रेष्ठ सुशब्द है ॥२६॥

इति सुशब्द का अंग ॥

———

अथ दुविधा का अंग ॥ ५८ ॥

दुविधा जाके दिल बसैं, दयावन्त जिव नाहिं।
कबीर त्यागु तासु को, भूलि देउ जनि बाहिं ॥ १ ॥

रे मन कछु नहिं कर सका, सरा न एको काम।
दुबिधा में दोऊ गये, माया मिली न राम ॥ २ ॥

हृदया माहीं आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबही देखई, दिल की दुबिधा जाय ॥ ३ ॥

चीटी चावल ले चली, बीच मिली इक दालि।
कहैं कबिर द्वौ ना मिले, एक ले दूजी डालि ॥ ४ ॥

जिसके मन में दुबिधा (संशय) हो, और दयालु भी नहीं हो, उसको त्यागो, भूल कर भी उसे बाहु (अवलम्ब-सहायता) नहीं दो, न लो ॥ १ ॥ दुबिधा में फंसा हुआ मनवाला कुछ भी नहीं कर सका, न उसे माया मिली न राम मिले, न एक भी प्रयोजन सिद्ध हुआ ॥ २ ॥ बुद्धि रूप आरसी (दर्पण) हृदय में है, परन्तु तौ भी मुख (आत्मा) नहीं देखा जाता है, वह तब देखा जा सकता है कि जब मन की दुविधा चली जाय ॥ ३ ॥ चीटी (बुद्धि) चावल (विषय) लेकर संसार में चली है, बीच में गुरु सत्संगादि में कहीं एकात्मा दाल मिल भी गई, तो दोनों सदा के लिये नहीं मिल सकते, इसलिये दूसरी वस्तु को त्याग करके ही एकात्मा को लेना चाहिये ॥ ४ ॥

कै तुम छोड़ौ मुकदमी, कै तुम साहब लोर।
दो दो घोड़ा मति चढै, तेरा घर है चोर ॥ ५ ॥

आगा पीछा दिल करै, सहजा मिलै न आय।
सो बासी यमलोक का, बांधा यमपुर जाय ॥ ६ ॥

कै (चाहे) तो तुम मुकदमी (अदालती-संसारी) की लोड़ै (इच्छा कर पास में जाओ) कै (अथवा) सर्वात्मा निष्प्रपञ्च साहब की लोर (इच्छा) कर, शरण में जाओ, एक काल में दो २ घोड़े पर नहीं चढो (संसार और साहब को नहीं चाहो) ऐसी इच्छा कामादि रूप चोर तेरा घर में है, उनसे बचो ॥ ५ ॥ जिसका दिल आगा पीछा करता है, संशययुक्त रहता है, और सहजा (समाधि) अवस्था में आकर आत्मा राम से नहीं मिलता है, सो यमलोक का वासी होगा, और बांधा हुआ यमपुर में जायगा ॥ ६ ॥

इति दुविधा का अंग ॥

अथ काल का अंग ॥ ५९ ॥

झूठा सुख को सुख कही, मानत हैं मन मोद ।
जगत चमेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥ १ ॥

आज काल पल छिनक में, मारग मेला हित्त ।
काल चिचाना नर चिड़ा, औजड़ औ अवचित्त ॥ २ ॥

काल चिचाना है खड़ा, जाग पियारे मित्त ।
नाम सनेही बाहरा, क्यों सोवै निःचिन्त ॥ ३ ॥

सब जग सोया निन्द भरि, मोहि न आवै निन्द ।
काल खड़ा है बारनै, तोरन आया बिन्द ॥ ४ ॥

चमेना (चर्वण) (कुछ मूठी कुछ गोद) पाठान्तर है । गोद (अंक क्रोड़) में ॥ १ ॥ आज या कल्ह या एक क्षण या पल में काल ग्रास होगा, या मार्ग में या मेला में या हित्त के पास में या औजड़ (कुठाम) और अवचित्त (अचानक) में नर रूप चिड़िया के ऊपर कालरूप चिचाना (बाज) झपटेगा ॥ २ ॥ वह काल बाज खड़ा है । हे प्रिय मित्र ! जागो,

नाम प्रेमी पन से रहित होकर क्यों निश्चिन्त सोते हो ॥ ३ ॥ सब संसारी मोहनिन्द से खूब सोया है, विवेकी को निन्द नहीं आती है, क्योंकि जीवरूप बिन्द (वर-दुलहा) माया से संग करके तोरन (तोरण-द्वार के बाहर) आया है, तब तक वारण (द्वार) पर काल खड़ा है ॥ ४ ॥

पाँव पलक की सुधि नहिं, करै काल का साज ।
काल अचानक मारि हैं, ज्यों तीतर को वाज ॥ ५ ॥

कबीर टुगटुग चोधता, पल पल गई बिहाय ।
जिव जंजाले पड़ि रहा, दिया दमामा आय ॥ ६ ॥

लूट सकै तो लूट ले, रामनाम भंडार ।
काल कंठ ते पकरही, रोकै दशहूँ द्वार ॥ ७ ॥

मैं अकेला वह दो जना, सेरी नाहीं कोय ।
जो यम आगे ऊबरो, तो जग वैरी होय ॥ ८ ॥

एक पैर आगे धरने और पलक लगने तक को भी जिसको सुधि नहीं है, सो कालान्तर के साज (भोग साधन) करता है । काल अचानक में तीतर को बाज के समान मारेगा ॥ ५ ॥ टुक २ धीरे २ चोधता (देखते) में पल २ में समय बीत गया, जीव जंजाल में पड़ा रहा, काल आ कर कूच का दमामा (नगारा) बजाय दिया ॥ ६ ॥ इसलिये शीघ्र रामनाम का भंडार को लूट सको तो लूट लो । जब काल तेरा कंठ पकडेगा, तब दशोद्वार रोकेगा, उस समय कुछ नहीं ले सकोगे ॥ ७ ॥ मैं जीव अकेला हूँ, वह दो जना है, सेरी (उपाय), कोई नहीं है । यदि यम के आगे बचता हूँ, तो दूसरा संसार वैरी होता है । साथी नहीं सहाय । पहुँचे जारा आय । ये द्वितीय चतुर्थ चरण के पाठान्तर हैं ॥ ८ ॥

जरा कुती योवन शशा, काल अहेरी लार ।
अबको :छन में पकड़ही, गरवै कहा गमार ॥ ९ ॥

काल हमारे संग बस, कैसी जीवन आस।
दिन दश नाम सँभार ले, जब लग पिंजर सांस ॥ १० ॥

आठ पहर योंही गया, माया मोहक जाल।
राम नाम हृदया नहीं, जीत लिया यम काल ॥ ११ ॥

बारी बारी आपने, चले पियारे मीत।
तेरी बारी जीवड़ा, नियरा आवै नीत ॥ १२ ॥

जरा (वृद्धावस्था) मानो कुत्ती है, यौवन खरगोस है, और काल शिकारी पास में है सो अब ही या छन में पकड़ेगा। फिर यौवन का गर्व क्या गमार करता है ॥ ६ ॥ हम देह-धारियों के साथ में ही काल बसता है, फिर जीवन की आशा कैसी हो सकती है, जबतक देह में प्राण है तब-तक दशदिन नाम का स्मरण कर लो ॥ १० ॥ जिस मनुष्य के आठो पहर माया मोह के विस्तार में योंही (भजन विना) गया, जिससे राम नाम हृदय में नही है, उसको यम रूप काल जीत लिया ॥ ११ ॥ बारी २ (समय २) पर प्रिय मित्र सब काल वश चल चुके, रे जीव तेरी बारी भी सदा पास में आ रही है ॥ १२ ॥

पंथी ऊभा पंथ सी, बकुचा बांधा पूठ।
मरन[1] मोह आगे खड़ा, जीवन का सब झूठ ॥ १३ ॥

माली आवत देखि के, कलिया करैं पुकार।
फूले फूले चुनि लियों, काल्ह हमारी बार ॥ १४ ॥

बढ़ही आवत देखि कर, तरुवर रुदन कराय।
मैं अपंग संशय नहीं, पक्षी बसते आय ॥ १५ ॥

फागुन आवत देखि के, बन रोता मन माहि।
ऊँची डारी पात था, पियरा ह्वै ह्वै जाहिं ॥ १६ ॥

---

१ मरना मुह आगे ॥ पा० ॥

पूठ (पीठ) पर बकुची गठरी बांध कर पथ में ऊभा (खड़ा) पंथी के समान सब जीव सदा संसार में है, क्योंकि मरन का मोह (संशय) सब के आगे खड़ा है, इससे जीवन का सब व्यवहार झूठ है ॥ १३ ॥ क्योंकि वृद्ध का मरण देख कर बालक भी समझता है, कि बूढे २ गये कुछ दिन में मेरी भी यही दशा होनी है ॥ १४ ॥ परन्तु परोपकारी मृत्यु को आता हुआ देखकर चिन्ता करता है, कि मृत्यु से भागने में मैं तो असमर्थ हूँ इसमें संशय नहीं है, परन्तु इस देह के रहने से अतिथि आदि का सत्कार होता था ॥ १५ ॥ दुष्काल को आता हुआ देखकर संसारी सब चिन्ताग्रस्त होते हैं कि, जो देही किसी ऊंचे स्थान में रहे, सो दुःखी होते हुए पद भ्रष्ट नष्ट हो रहे हैं ॥ १६ ॥

निधरक बैठा राम बिनु, चेत न करो पुकार।
या तन जल का बुदबुदा, विनशत नाहीं वार ॥ १७ ॥

पानी केरा बुदबुदा, ऐसी हमारी जात।
देखते हि छिप जाहिगें, ज्यों तारा परभात ॥ १८ ॥

कबीर पांच पखेरूआ, राखा पोष लगाय।
एक जु आया पारधी, सबही लिया उडाय ॥ १९ ॥

मन्दिर मांही झमकती, दीपक की सी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढी घर की छोति ॥ २० ॥

पड़दे रहती पद्मिनी, करती कुल की कान।
छडी जु पहुँची काल की, ठार भई मैदान ॥ २१ ॥

ऐसा होते भी अज्ञ जीव राम बिना ही निधरक बैठा है। हे भाई चेत (समझ) कर सद्गुरु आदि का शीघ्र पुकार करो (शरण लो) जल के बुदबुद तुल्य देह के नष्ट होते देर नहीं लगेगा ॥ १७ ॥ हमरी (देही की) जात (जाति उत्पत्ति) है ॥ १८ ॥ पांच पखेरुआ (पक्षी तुल्य उड़ाकु प्राण या

इन्द्रिय) को पोषण करके रखा गया। पारधी (व्याधा-काल) ॥ १६ ॥ झमकती (प्रकाशती फिरती) जो देह, उसमें से बटाऊ (पथिक) हंस (जीवात्मा) जब चल गया, तब उस देह को घर के छूत समझ कर काढ़ा (निकाला) गया ॥ २० ॥ जो पद्मिनि (उत्तम स्त्री) परदे में रहती थी, कुलकी कान (मर्यादा) करती थी, काल की छड़ी पहुँचने पर वह भी मैदान में खड़ी हो गई ॥ २१ ॥

कहा चुनावै मेढिया, लम्बी भीत उसार।
घर तौठीति हाथ घना, ना तो पौने चार ॥ २२ ॥

पांच तत्त्व का पूतला, मानुष धरिया नाम।
दशे दिना के कारने, फिर फिर रोकै ठाम ॥ २३ ॥

मछली दह छूटै नहीं, धीमर मेरा काल।
जिहि जिहि डावर घर करौं, तहँ तहँ मेलै जाल ॥ २४ ॥

पानी महँ की माछली, क्यों तूं पकरी तीर।
कड़ी जु खड़की जाल की, आये पहुचा कीर ॥ २५ ॥

ये मतिहीनी माछली, राखि न सको शरीर।
सो सरवर है आनही, जाल काल न कीर ॥ २६ ॥

मेढिया (महल) क्या बनवाता है कि जिसमें लम्बी भीत ओसारा बनवाता है, घर तौठीति (साढ़े तीन) हाथ का बहुत है, नहीं तो पौने चार हाथ का चाहिए ॥ २२ ॥ फिर-फिर कर ठाम (स्थान) को रोकता (दखल करता) है ॥ २३ ॥ यद्यपि मछली दह (जलाशय) को नहीं छोड़ती है समझती है कि धीमर मेरा काल है, इससे जिस-जिस अल्प जलाशय में घर करुंगी तहां २ जाल डारेगा। अर्थात् मनुष्य की बुद्धि मृत्यु से डर कर बहुत आश्रय लेती है ॥ २४ ॥ तो फिर एक दिन ऐसी अवस्था आती है कि बुद्धि मरणाभिमुख होती है, और काल रूप कीर (धीमर) पहुँच जाता है ॥ २५ ॥ क्योंकि

इस संसार में शरीर को कोई भी रख नहीं सका, वह सरोवर ही कोई अन्य है कि जहां काल का जाल (कर्म) और कीर का सम्बन्ध नहीं है ॥ २६ ॥

हे मतिहीनी माछली, धीमर मीत कियाय।
करि समुद्र सो रूठना, झीलर चित्त दियाय ॥ २७ ॥

हे मतिहीनी माछली, झीलर माडी आल।
डाबरियाँ छूटै नहीं, सकै त समुँद सँभाल ॥ २८ ॥

आँखडिया रतनालियां, चेजा करै पताल।
पासा ढरिया कर्म का, यों मैं बंधा जाल ॥ २९ ॥

सूखन लागै केवरा, टूटन लागी डार।
पानी की कल जानता, चला सो सींचनहार ॥ ३० ॥

मतिहीन जीव काल को ही मित्र किया, और ब्रह्मात्मा समुद्र से रुष्ट होकर झीलर (तुच्छ जलाशय तुल्य संसार) में चित्त दिया ॥ २७ ॥ हे मतिहीन जीव यद्यपि तुम झीलर में आल (खेल क्रीड़ा) माड़ा (कर रहा) है। परन्तु त्रिलोकरूप डावरों में काल धीमर से नहीं छूट सकते हो, कर सकते हो तो तुरीयात्मा समुद्र का स्मरण करो ॥ २८ ॥ यद्यपि मनुष्य की दृष्टि (आंख) रत्न तुल्य है, और कर्मोपासना रूप पाताल में चेजा (शय्या) करता है। परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म का पासा ढरा (मोका) आया कि जिससे ममता आदि रूप जाल में बंध गया ॥ २९ ॥ फिर कमलादि रूप केवड़ा सूखने लगा, नाडी आदि डार टटने लगी, पानी का कल (जीवका रहस्य) को समझने वाला कालरूप सैंचनहार चला सो शरीर सरोवर को सुखा दिया ॥ ३० ॥

धमनी धवती रह गई, बूझन लगा अँगार।
अहरन षडका रहि गया, जब उठि चला लुहार ॥ ३१ ॥
काहे हरिनी दूबरी, इहे हरियरे ताल।
लाख अहेरी एक जिव, केतिक टारै भाल ॥ ३२ ॥

बिष के वन में घर किया, सर्प रहा लपटाय ।
ताके डर जिव गहि रहा, जागत रैनि विहाय ॥ ३३ ॥

राम कहा तिन कहि लिया, जरा पहूँची आय ।
मन्दिर लागी द्वार लौ, अब कछु काढि न जाय ॥ ३४ ॥

बरिया बीते बल घटे, केश पलट भौ और ।
बिगरा काज समारि ले, कर छूटे नहीं ठौर ॥ ३५ ॥

फिर अन्त में धमनी (नाडी) धवती (चलती) हुई कुछ काल रह गई, परन्तु अँगार (ज्ञान शक्ति) बूझने लगा, इससे मानो जीवरूप लुहार के अन्य सब साधन समाप्त हो गये, केवल वासनादि रूप अहरन और संचित आगामी कर्म रूप घडका (सरसी) रह गया, तब लुहार उठ चला ॥ ३१ ॥ इस जीव की बुद्धि मनुष्य देह में भी इसी से कमजोर है कि काल कर्मादि लाखों शिकारी हैं, और जीव एक है, कितना भाला हटावे ॥ ३२ ॥ बुद्धि की कमजोरी से ही विषय विषके बन में घर किया जहां काल सर्प लिपट रहा है । उसका भय भी जीव मान रहा है, उचित है कि विवेक से जागते ही में मोहरात्रि को वितावे ॥ ३३ ॥ जाग कर जिन्होंने राम भजा सो भजा, नहीं तो देह मन्दिर के द्वार में जब लौ (कालाग्नि) लगी तो कुछ भी घर में से काढा नहीं जा सकता ॥ ३४ ॥ बरिया (समय) बीते, बल घटे, केश सफेद हुए, इस समय भी बिगरा काम सम्हार लो, और सो काम करो कि जिससे अपना ठौर नहीं छूटे ॥ ३५ ॥

कबीर हरि से हेत कर, कोरै चित्त न लाय ।
बांध्यो वारि खटीक के, ता पशु केतिक आय ॥ ३६ ॥

कांची काया मन अथिर, थिर थिर काम करन्त ।
ज्यों ज्यों नर निधरक फिरैं, त्यों त्यों काल हसन्त ॥ ३७ ॥

कबीर सब सुख राम है, और हि दुख की रासि ।
सुर नर मुनि जन असुर सुर, पडे काल की फांसि ॥ ३८ ॥

काल्ह करन्ता आज कर, आज करन्ता अब्ब।
पल में परलय होयगा, बहुरि करोगे कब्ब ॥ ३६ ॥

आज कहै हरि काल्ह भजु, काल्ह कहै पुनि कालि।
आज काल के अन्तरा, अवसर जासी चालि ॥ ४० ॥

ठौर नहीं छूटने के लिये हरि से प्रेम करो, और कोरै (कुड़े कुकर्मादि) चित्त में नहीं लाओ, समझो कि जो पशु खटिक (कसाई) के बारि (द्वार पर) बांधा है तिस के कितना आय (आयु) है, और काल के द्वार पर भी ऐसा ही समझो ॥ ३६ ॥ कांची (नश्वर) अथिर (चञ्चल) थिर (धीरे-धीरे) निधरक (निश्चिन्त) ॥ ३७ ॥ सब सुख स्वरूप राम हैं, राम से अन्य ही दुःख के राशि रूप है, इससे राम बिना सब काल के फांस में पड़े हैं ॥ ३८ ॥ इसलिये जो राम भजनादि काल्ह करना है, सो आज करो, आज किसी समय करना है सो अबही करो, क्योंकि यदि पल भर में मृत्यु होगी तो फिर कब करोगे ॥ ३६ ॥ जो आज काल्ह करके समय टालता है, उसका आज काल्ह के बीच में ही समय चला जायेगा भजन नहीं होगा इत्यादि (आज काल्ह करता रहै) पाठान्तर है ॥ ४० ॥

टाला टोली दिन गया, व्याज बढन्ता जाय।
ना हरि भजै न खत फटै, काल पहूंचा आय ॥ ४१ ॥

ज्यों कोरी रेजा बुनै, बुनता आवै ओर।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥ ४२ ॥

कबीर पगरा दूरि है, बीच पडी है रात।
ना जानौ क्या होयगा, उगन्ता परभात ॥ ४३ ॥

जारनहारा भी मुआ, मुआ जलावनहार।
है है करते भी मुये, कासो करौं पुकार ॥ ४४ ॥

धन संचय संग्रह करै, वह दिन जानै नाहि।
सहस वरष का सौज कर, मरै मुहूरत माहि ॥ ४५ ॥

जैसे कर्ज खाने वाला यदि टाला टोली करता है, तो दिन जाने से व्याज (सूद) बढता जाता है, तैसे भक्ति ज्ञान में टाला टोली करने से कर्म बढता है, भक्ति बिना खत (कर्म लेख) नष्ट नहीं होता, इससे काल आकर पहुँचता है ।। ४१ ।। जैसे कोरी (जुलाहा) रेजा (थान) बिनता है तो बिनते २ ओर (अन्त) आता है, ऐसा ही मृत्यु का हिसाब है, उसके आने से प्रथम भाग सको तो भागो ।। ४२ ।। पगरा (मार्ग) दर है, और बीच में यदि रात आ गई है तो पता नहीं कि प्रभात सूर्योदय होते तक क्या होगा, इसलिये रात को भी अपना मार्ग चलो ।। ४३ ।। जारने वाला जलानेवाला है २ करने वाले ये सब मरे, इन में बचने के लिए किससे पुकार किया जाय, जलन रहित राम सद्गुरु का पुकार करो ।। ४४ ।। जो मनुष्य धन का संचय वस्तुओं का संग्रह करता है, सो उस मरण का दिन को नहीं जानता है, क्योंकि हजार वर्ष का सौज (साज-साधन) करता है और मुहूर्त मात्र में मरता है ।। ४५ ।।

चहुँ दिशि पाका कोट था, मन्दिर नगर मझार ।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बांधा दरबार ।। ४६ ।।

चहुं दिशि ठाढ़े शूरमा, हाथ लिये हथियार ।
सब ही यह तन देखतां, काल ले गया मार ।। ४७ ।।

दव की दाधी लाकडी, ठाढी करै पुकार ।
मति वश पड़ो लुहार के, जालै दूजी बार ।। ४८ ।।

[1]मैं राजी लोहार का, तू मति जारै मोहि ।
एक दिन ऐसा होयगा, हूं जालूंगा तोहि ।। ४९ ।।

काया काठी काल घुन, यतन यतन घुन खाय ।
काया मध्ये काल बस, काहू मरम न पाय ।। ५० ।।

---

१ मेरा बीर लुहारिया । पा० ।।

जिस धनी राजा के चारों तरफ पक्का कोट, नगर में मकान, खिड़कियों पर रक्षक, चारों तरफ अस्त्रधारी बीर, दरबार में बांधे हुए हाथी आदि थे तब भी अन्य सब उसके शरीर को देखते ही थे, परन्तु काल मार कर ले गया ॥४६-४७॥ इससे संसार दुःख से दग्ध लकड़ी तुल्य जीव खड़ा होकर ईश्वर से पुकार करता है कि काल रूप लुहार के वश में नहीं पड़े कि जो दूसरी बार भी जलाता है ॥ ४८ ॥ मैं उस लोहार को भी राजी (स्तुति से प्रसन्न) करना चाहता हूँ कि तू मुझे नहीं जलाओ, नहीं तो एक दिन ऐसा भी आयगा कि मैं भी ज्ञानाग्नि से तुझ जलाऊंगा ॥ ४६ ॥ शरीर काठ तुल्य है, और काल घुन है, सो इसे युक्ति २ से खाता है। इस में ही प्राणादि रूप से रहता है, उस का भेद कोइ नहीं जानता है ॥ ५० ॥

संशय काल शरीर में, विषम काल है दूर।
जाको कोइ जानै नहीं, जारि करै सब धर ॥ ५१ ॥

जारै बारै मसि करै, मसि करि करै जु छार।
कहैं कबिर कोइला करै, फिरि कै दे अवतार ॥ ५२ ॥

ताजी छूटा सहर में, कसबा पड़ा पुकार।
दरवाजा दीया रहा, निकस गया असवार ॥ ५३ ॥

आसपास योधा खडे, सबे बजावैं गाल।
मांझ महल ते ले चला, ऐसा बरबस काल ॥ ५४ ॥

भाई बीर बटाउआ, नैन भरी भरि रोय।
जिसका था सोई लिया, दीया था दिन दोय ॥ ५५ ॥

संशय शरीर में काल है, विषम (कठिन) काल दूर है, जिसको कोई समझता नहीं है। सब को जला कर धूर करता है ॥ ५१ ॥ संशय रूप काल ही जारना बारना मसि छार कोइला करता है और फिर अवतार देता है ॥५२॥ (चंचल ताजी मन प्राण) जब देह सहर में छूटा, तव कसबा (इन्द्रिय समूह) में

पुकार परा, फिर सब दरवाजे दिये (बन्द) ही रहे, परन्तु असवार जीवात्मा निकल गया ॥ ५३ ॥ बीरों के बात करते रहने पर मध्य महल से जीव को बलि काल ले चला ॥ ५४ ॥ भाई वीर पथिक सब रोते और कहते हैं कि जिसका था सो ले गया, दो दिन के लिये हमें दिया था ॥ ५५ ॥

सब[1] को काल गरासई, बहुत कहा समुझाय ।
कहैं कबिर मैं क्या कहूँ, देखत ना पतियाय ॥ ५६ ॥

कुशल जो पूछो असल की, आशा लागी लोय ।
नाम बिहना जग मुआ, कुशल कहां ते होय ॥ ५७ ॥

गगन गरासै चन्द्रमा, असुर गरासै लोग ।
ओरहा होय न पावई, ताते दिन दिन रोग ॥ ५८ ॥

कूवाँ केरी पाल पर, बैठे पारधि आय ।
तीन लोक धरि खाइया, बिकुंठ दिखाय दिखाय ॥ ५९ ॥

काल कृत गरास को जीव सब सदा देखता है, तो भी विश्वास नहीं होता है (शब्द नहीं ठहराय) यह अन्तिम चरण के पाठान्तर है ॥ ५६ ॥ असल (सत्य) की कुशल आदि पूछो तो कुशल क्या कहा जाय, आशा रूप लोय (अग्नि) लगी है, या लोय (लोगों) में आशा लगी है, इससे नाम बिना ही जग मरा, फिर कुशल किससे हो ॥ ५७ ॥ जैसे गगन में चन्द्रमा को असुर ग्रासता है, तैसे आशा लोभ को ग्रासती है, इससे ओरहा (ओरगामी-अनन्ततत्त्वज्ञ) नहीं होने पाता है, तिससे दिन २ रोग (कामादि) होते हैं ॥ ५८ ॥ हृदयादि कूप के पाल (तट) पर संशयादि रूप पारधी (व्याध काल) आ कर बैठा है, सो वैकुण्ठादि लोकों को देखा २ कर (उनकी आशा कराकर) तीनों लोक को धर कर खाता है ॥ ५९ ॥

कागा काय छिपाय के, कियो हंस का भेष ।
चलो हंस घर आपने, लेहु धनी का देश ॥ ६० ॥

---

१ निश्चय काल । पा० ॥

श्वेत पंख मुख नैन है, स्याम चोंच नहीं लाल।
तुम तो हंस न आय हो, तुम तो आय हु काल ॥ ६१ ॥

चरन चोंच लोचन रतन, चलो मराली चाल।
हंसिनी चाल विचारिया, यह तो अहै जु काल ॥ ६२ ॥

आशा रूप काग अपनी काया को छिपा कर हंस का वेष किया है, इस अवस्था में हे हंस जीव ! तुम अपने घर हृदय स्वरूप में चलो, धनी प्रभु का देश लो, आशा के पीछे नहीं लगो ।। ६० ।। इस आशा के पंखादि श्वेत (सात्त्विक) सा दीखते हैं, परन्तु चोंच स्याम (तामस) है, लाल (रक्त प्रेम युक्त) नहीं है, क्योंकि आशा लोभ जन्य प्रेम वस्तुतः प्रेम नहीं है, इसलिये हे आशे ! तुम हंस नहीं आये हो किन्तु तुम काल आये हो ।। ६१ ।। तेरे चरणादि रतन तुल्य हैं, हंस के चाल भी चलती हो, परन्तु तोभी हंसिनी (विवेकवती बुद्धि) विचार किया कि यह काल ही है इत्यादि ॥ ६२ ॥

चलती चाकी देखिके, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन विच आयके, साबुत गया न कोय ॥ ६३ ॥

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला सो लागा रहैं, ताको विघ्न न होय ॥ ६४ ॥

चाकी चली गुपाल की, सब जग पीसा झारि।
रूठा शब्द कबीरका, डारा पाट उखारि ॥ ६५ ॥

दो पाटन (द्वन्द्व), साबुत (सुखी-तृप्त), आसै पासै (संसार), निपट (अत्यन्त), पिसावै (पीडित होवै), कीला (जगदाधार), विघ्न (दुःख)। रूठा (समर्थ) (या स्थिर) ॥ ६३ से ६५ ॥

इति काल का अंग ॥

अथ सजीवन का अंग ॥ ६० ॥

जरा मरण व्यापै नहीं, मुआ न सुनिये कोय।
जिनके शब्द प्रतीति है, सतगुरु शरना सोय ॥ १ ॥

भव सागर ते यों रहै, ज्यों जल कमल निराल।
मनुवा तहँ लै राखिया, जहाँ नहीं यम जाल ॥ २ ॥

कबीर योगी बन बसा, खनि खाया कंद मूल।
ना जानै किस जड़ी से, अमर भया अस्थूल ॥ ३ ॥

कबीर तो हरि पै चला, माया मोह से तोरि।
गगन मंडल आसन किया, काल रहा मुख मोरि ॥ ४ ॥

कबीर मन तीखा किया, लाय विरह खरसान।
चित चरणों से चहुंटिया, तब न काल का बान ॥ ५ ॥

जिनको शब्दोपदेश के विश्वास है, सो सतगुरु के शरण में है कि जहाँ जरा मरण नही व्यापता है, न कोई मुआ सुना जाता है ॥ १ ॥ क्योंकि सो भवसागर में ऐसे रहत हैं कि जैसे जल मे कमल पत्र असंग रहता है। मन को उस ब्रह्मात्मा में लेकर रखा है कि जहां यम जाल नहीं है ॥ २ ॥ इस साधन के बिना जो योगी होकर बन में बसा और कन्दादि खन कर खाया, वह नहीं जानता है, कि किस जडी से स्थूल देह अमर हो रहा है। अर्थात् अज्ञान मूल कारण को वह न जानता है, न नष्ट करता है ॥ ३ ॥ ज्ञानी तो माया मोह (अज्ञान आसक्ति) को नष्ट करके हरि के प्रति चला, और गगन मंडल (चिदाकाश) में आसन किया, जिससे काल मुख मोड़ रहा ॥ ४ ॥ बिरह भक्ति रूप खरसान तीक्ष्ण सान लगा कर मन को तीक्ष्ण किया, फिर चित्त हरि गुरु के चरणों में चिपट रहा, तब काल का बान नहीं रहा ॥५॥

काची रती मति करो, दिन दिन बढये व्याधि।
राम कबीरा रुचि भई, याही औषधि साधि ॥ ६ ॥

कबीर संशय जीव में, कोइ न कहि समुझाय।
विधि विधि बानी बोलता, सो कित गया विलाय ॥ ७ ॥

कच्ची रति (प्रीति) नहीं करो, उससे सदा व्याधि बढता है, जीव को राम में रुचि हुई है, इसी औषधि को साधो ॥ ६ ॥ जीव में मरणादि का संशय है, कोई समुझा कर कहता नहीं है कि जो अनेक प्रकार की बानी बोलता है, सो कहीं बिलाया नहीं है ॥ ७ ॥

इति सजीवन का अंग ॥

अथ पश्चात्ताप का अंग ॥ ६१ ॥

आछे दिन पाछे गये, पिय सो किया न हेत।
अब पछताये होत क्या, चिडिया खाया खेत ॥ १ ॥

केला क्यों नहि चेतिया, जब ढिग जामी बेर।
अबके चेते होत क्या, कांटन लीन्हा घेर ॥ २ ॥
जब रँग था तब ना रंगा, हरि रंग मान मजीठ।
अब पछताये क्या हुवा, जब रंग दीन्ही पीठ ॥ ३ ॥
मरति बिरिया दान कर, जीवत बडा कठोर।
कहैं कबिर क्यों पाइये, खाड़ा काढे चोर ॥ ४ ॥

अच्छा समय पहले गया तब जो प्रिय हरि से हेत (प्रेम) नहीं किया, फिर वृद्ध रुग्णादि अवस्था में पछताने से क्या होगा कि जब इन्द्रिय रूप पक्षी खेत चर गये ॥ १ ॥ कोमल चित्त जीव यदि उस समय नहीं चेता कि जब क्रूर कलहप्रिय संग लगे, तो अब पछताने से क्या होगा कि जब वे क्रूर अपने कुटिल व्यवहार से बश में कर लिये ॥ २ ॥ जब रंग (सामर्थ्यादि) शरीर में था, तब जो हरि रंग (प्रेम) को मजीठ (पक्का) मान कर उस रंग में नहीं रँगा, फिर जब सामर्थ्यादि पीठ दिये (विमुख हुये) तो अब

पछताने से क्या हुआ ॥ ३ ॥ मरती विरिया (मरते समय) दान करता है, और जीवितावस्था में बहुत कठोर (क्रूर) रहता है, तो वह खड्ग को काढ़कर स्थिर चोर को कैसे पा सकता (वश कर सकता) है, अर्थात् वह काल को नहीं वश कर सकता है, क्योंकि पूर्व के कर्मादि के अनुसार फल देने के लिये साधन सहित काल उपस्थित हो चुका है। अतः दानादि प्रथम ही कर्तव्य हैं ॥ ४ ॥

इति पश्चात्ताप का अंग ॥

अथ साक्षीभूत का अंग ॥ ६२ ॥

कबीर पूछै राम को, सकल भुवनपति राय।
सबही करि न्यारा, रहै, सो विधि[1] देहु बताय ॥ १ ॥

जिस बिरिया सांई मिले, तासु न जानो और।
सब को सुख दे शब्दका, अपनी अपनी ठौर ॥ २ ॥

पारस रूपी राम है, लोहा रूपी जीव।
जब जा पारस भेटसी, तब जिव होसी सीव ॥ ३ ॥

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
हम तो भये तमासगी, नाटक बाजी सोय ॥ ४ ॥

ज्ञानी राम को पूछते हैं कि, हे सब भुवन के पतियोंका राजा राम सब व्यवहार करके भी जिस प्रकार न्यारा रहे सो विधि (प्रकार) जीव को बता दो (गुरु अन्तर्यामी रूप से समझा दो ॥ १ ॥ जिस समय स्वामी मिले उस समय स्वामी से और को नहीं जानौं तथा सबको अपनी २ ठौर में शब्द का सुख दे सकें, सो विधि समझा दो ॥ २ ॥ राम का कहना है कि राम पारस रूप है, जीव लोहा रूप है. सो जीव जब पारस से मिलेगा

---

१ सोइ दहु। पा० ॥

तब शिव (कल्याण) स्वरूप होगा ॥ ३ ॥ उसको ज्ञान होगा कि किस पर दया करें, किस पर निर्दय होयँ, हम तो तमाशा देखने वाले हुए हैं, और वह राम ही माया से नाटकबाजी हुआ है ॥ ४ ॥

इति साक्षीभूत का अंग ॥

अथ कपट का अंग ॥ ६३ ॥

कबीर तहां न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत ॥ १ ॥

नमन नमा तो क्या हुवा, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नमै, मिरग ही टूकै जाहि ॥ २ ॥

नमन नमन बहु अन्तरा, नमन नमन बहु बान।
ये तीनों बहुते नमै, चीत्ता चोर कमान ॥ ३ ॥

संसारी सांकट भला, कन्या क्वारो भाय।
दुराचारि वैष्णव बुरा, हरिजन तहां न जाय ॥ ४ ॥

जहाँ कपट का प्रेम हो तहाँ नहीं जाना चाहिए, अनार की कली के समान तन के राता (रक्त-प्रेमी) और मन के सेत (प्रेमहीन) को समझना चाहिये ॥ १ ॥ नमस्कार से यदि नमा तो इससे क्या हुआ, यदि उसका चित्त सीधा नहीं है, व्याधा तो द्विगुण नमता है, परन्तु मृग हि टूके (मारे) जाते हैं ॥ २ ॥ नमने २ में बहुत भेद है, और नमने २ में बहुत बान (स्वभाव) की भी बात है, चित्ता, बाघ, चोर और धनुष स्वभाव से ही बहुत नमते हैं, परन्तु, उससे परहित नहीं होता है ॥ ३ ॥ संसारी सांकट भी सदाचारी हो तो भला है, कुमारी भी कन्या धर्मनिष्ठावाली भावती है, परन्तु दुराचारी वैष्णव हो तो सब से बुरा हैं, हरिजन उसके यहाँ नहीं जाय ॥ ४ ॥

कबीर तहां न जाइये, जहां न चोखा चित्त।
परपूटा अवगुन घना, मुहरे ऊपर मित्त ॥ ५ ॥

आगे दर्पण ऊजला, पीछे विषम विकार।
आगे पीछे और सी, क्यों न परै मुख छार ॥ ६ ॥

पेट कतरनी जीभ रस, मुख देखे को रंग।
आगे भलि पीछे बुरी, तिन का त्यागिय संग ॥ ७ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहां कपट का हेत।
नव मन बीज जु बोय के, खाली रहि गौ खेत ॥ ८ ॥

जहाँ चोखा (शुद्ध) चित्त नहीं हो, तहां नहीं जाना चाहिये, वहाँ परपूटा (पीछे, पर के सामने) घना अवगुण की बात रहती है, और वह मुख पर के मित्र होता है ॥ ५ ॥ दर्पण के आगे साफ और पीछे विकार रहता है, तिस को साफ करने के लिये मुख मे छार दिया जाता है, तैसे ही जिसके आगे पीछे अन्य के समान है, उसके मुख मे धूल क्यों न पड़ेगा ॥ ६ ॥ जिसके पेट में कतरनी (कपट) है, मुख में रस (प्रेम) है, मुख देखी बात है। इससे आगे भली और पीछे बुरी बात है, उस का संग त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ ऊषर में नव मन बीज बोने पर भी खेत खाली रहता है, तैसे कपटी में नवधा भक्ति भी फल प्रद नहीं होती हैं ॥ ८ ॥

बहुतक दिन ऐसे गया, अवरुचती का नेह।
ऊषर बीज न जामई, जो घन बरषै मेह ॥ ९ ॥

कबीर तहां न जाइये, जहँ नाना व्रत भाव।
लागे ही फल ढहि परै, बाजे काई कुबाव ॥ १० ॥

भक्त भया तो क्या भया, माला पहिरा चार।
ऊपर कली लपेटि के, भीतर भरा भँगार ॥ ११ ॥

मुख की मीठी जो कहै, हृदया मत है आन।
कहैं कबिर तिहि लोग से, तैसे राम सयान ॥ १२ ॥

अनरुचती (कपटी) का नेह (भक्ति) भी बहुत दिनों का इस प्रकार निष्फल गया कि जैसे मेघ के घना वर्षने पर भी ऊषर में बीज नहीं जमता है ॥ ६ ॥ जहां नाना भाव वरतता हो, तहाँ नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ फल नही लगेगा, यदि फल लगेगा भी तो ऐसा कोई कुबाव (कुवायु· कुवचन) बाजेगा (बहेगा बोलेगा) कि लागा हुआ फल भी ढह परेगा ॥ १० ॥ कली (चूना तिलक), भीतर (घर-हृदय), भंगार (कूरा-कपट), ॥ ११ ॥ मुख की मीठी (मधुर) जो कहता है, और हृदय में आन (क्रूरता) है, तो उसके लिये सयान (सर्वज्ञ) राम भी तैसा ही (बाहर मधुर, भीतर क्रूर) हैं ॥ १२ ॥

इति कपट का अंग ॥

अथ गुरु शिष्य हेरा का अंग ॥ ६४ ॥

ऐसा कोई ना मिला, हम को दे उपदेश।
भवसागर में बूडता, कर गहि काढै केश ॥ १ ॥

ऐसा कोई ना मिला, नाम भक्त का मीत।
तन मन सौंपे मिरग ज्यों, सुनि पायक का गीत ॥ २ ॥

ऐसा कोई ना मिला, घर दे अपन जलाय।
पांचो लड़के पटकि के, रहै नाम लौं लाय ॥ ३ ॥

ऐसा कोई ना मिला, हमको ले पहिचान।
अपना करि किरपा करै, लै उतरै मैदान ॥ ४ ॥

शिष्य कहता है कि ऐसा कोई सद्गुरु हमें नहीं मिला, जो हमें उपदेश दे। भव सागर में बूड़ते हुए को हाथ में केश पकड़ कर भी निकाले।। १ ।। गुरु का कथन है कि ऐसा कोई शिष्य नहीं मिलता है कि जो नाम भक्त का मित्र हो, और सद्गुरु के प्रति मृग के समान तन मन सौंप कर पायक (अमृत पान कराने वाला गुरु) का गीत (उपदेश) को सुने, तथा पायक के गीत को सुनकर तन आदि को सौंपे, जैसे व्याधा के गीत को सुन कर मृग अर्पण करता है ।। २ ।। तथा जो अपने घर (देह गृहादि के अभिमान) को नष्ट करे, और पांच लड़के (ज्ञानेन्द्रिय) के विषय को त्याग कर नाम में लव लगाया रहे, सो नहीं मिलता है ।। ३ ।। शिष्य कहता है कि ऐसा सद्गुरु नहीं मिलते जो जिज्ञासु भक्त शिष्य को पहिचान लें और अपना जन करके कृपा करे, तथा शिष्य को लेकर मोक्ष मार्ग के मैदान में साथ ही उतरें ।। ४ ।।

ऐसा कोई ना मिलै, समझै सैन सुजान।
ढाल दमामा ना सुने, सुरति विहूना कान ।। ५ ।।

ऐसा कोइ ना मिला, सब विधि देंउ बताय।
सुन्न मंडल में पुरुष है, तहां रहै लव लाय ।। ६ ।।

तीन सनेही बहु मिले, चौथा मिला न कोय।
सब ही पियारे राम के, बैठे परवश होय ।। ७ ।।

सारा शूरा बहु मिले, घायल मिला न कोय।
घायल का घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय ।। ८ ।।

गुरु का कथन है कि जो सुजान (विवेकी) हो कर सद्गुरु के सैन को समझे, और बाह्य सुरति (ध्यान) रहित होने से जिसके कान ढोल दमामा (नगारा) को नहीं सुने, ऐसा शिष्य कोई नहीं मिलता है ।। ५ ।। ऐसा कोई नहीं मिलता है कि जिसके प्रति सुन्न मण्डल (हृदय) में जो

पुरुष है उसका उपदेश सब प्रकार से किया जाय, और वह उस हृदय में ही लौ लगाकर स्थिर रहे ॥ ६ ॥ बृहदा-अ० ३।५ के अनुसार मुमुक्षु, जीव पुत्र वित्त लोकेच्छा रहित होते हैं, और पुत्रादि तीन के ही सनेही (प्रेमी) बहुत मिलते हैं, चौथा आत्मप्रेमी कोई नहीं मिलता है। इससे सब तीन के पियारे (प्रेमी) राम (ईश्वर) के परवस (अधीन) हो कर बैठे हैं, तथा राम के प्यारे भी तीन के परवश हो बैठे हैं ॥ ७ ॥ इससे सारा (सर्वाङ्गयुक्त) सूर बहुत मिले, परन्तु घायल नहीं मिला, अर्थात् अभिमान रहित नहीं मिला, और निरभिमान को निरभिमानी के मिलने से राम भक्ति दृढ़ होती है ॥ ८ ॥

प्रेमी ढूंढत मैं फिरूं, प्रेमी मिला न कोय।
प्रेमी को प्रेमी मिले, तो विष अमृत होय ॥ ६ ॥

सर्पहि दूध पिलाइये, सो तो विष ह्वै जाय।
ऐसा कोई ना मिला, जो आपहि विष खाय ॥ १० ॥

जैसा ढूंढत मैं फिरौं, तैसा मिला न कोय।
तत वेता तिर गुन रहित, निर्गुन सों रत होय ॥ ११ ॥

अभिमान को त्याग कर सद्गुरु सत्यआत्माराम के प्रेमी को ढूंढता हुआ मैं (सद्गुरु) फिरता हूँ, परन्तु कोई प्रेमी मिलता नहीं है यदि प्रेमी (सद्गुरुको) प्रेमी (शिष्य) मिले, तो उस शिष्य की विषय विषमय वासना भावना अमृतमय हो जाय ॥ ९ ॥ सत्य प्रेमादि बिना तो जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष हो जाता है, तैसे सदुपदेश भी असत् फल का हेतु होता है, इससे प्रेमादि बिना ऐसा कोई नहीं मिलता कि जो अपने विष (कुवासना) को आप खाकर (नष्ट करे) प्रारब्धानुसार प्राप्त न्याय्य भोग मात्र से तृप्त रह कर लोभादि को नष्ट करे ॥१०॥ इससे जैसा मैं ढूंढता हूँ, ऐसा कोई नही मिला, तत्त्ववेत्ता (विवेकी) त्रिगुणमय लोकादि की इच्छा से रहित और निर्गुणात्मा

के खोज में तत्पर शिष्य, त्रिगुण पर आत्मनिष्ठ गुरु दोनों दुर्लभ है, दोनों के मेलादि बिना रामभक्ति मुक्ति दुर्लभ है ॥ ११ ॥

जैसे सति पिय संग जरै, आशा सबकी त्याग।
सुघर कूर सोचै नहीं, सिख पतिवर्त सुहाग ॥ १२ ॥

सर्वस सीस चढ़ाइये, तन कृत सेवा सार।
भूख प्यास सह ताडना, गुरु के सुरत निहार ॥ १३ ॥

गुरु को दोष रति हु नहीं, शीष न शोधे आप।
शीष न छाड़ै मनमता, गुरु हि दोष का पाप ॥ १४ ॥

क्योंकि अधिकारी शिष्य पतिव्रता सती के समान सब आशा को त्याग कर सर्वात्मा पति के साथ ज्ञानाग्नि से जल मरता है, और सुघर कूर (सीधा-टेढा, या सुरूप कुरूप) को नहीं शोचता है, कैसी भी सद्गुरु की सीख (शिक्षा) हो, उससे वह पतिवर्त (विचारादि पूर्वक भक्ति) रूप सुहाग सौभाग्य में लगता है ॥ १२ ॥ वह सर्वस्व तथा शीष का अर्पण करके शरीर से सार (सच्ची) सेवा करता हुआ, भूखादि को सहता हुआ गुरु के सुरत को देखता है ॥ १३ ॥ और वह समझता है कि गुरु को रत्ति मात्र भी दोष नहीं है, शिष्य ही तप आदि से अपनेको नहीं शोधता है, इससे वह मनमता (अविवेक-मोह) को नहीं छोड़ता है, मुक्त नहीं होता है, तो इसमें गुरु को कौन दोष या पाप है ॥ १४ ॥

जैसी सेवा शिष करै, तस फल प्रापत होय।
जो बोवै सो लोंव ही, कहै कबीर विलोय ॥ १५ ॥

हिरदे ज्ञान न ऊपजे, मन परतीत न होय।
ताको सतगुरु क्या करै, घन घसि कुल्हर न होय ॥ १६ ॥

घन घसिया जोई मिले, घन घसि काढ़ै धार।
मूरख ते पण्डित किया, करत न लागी बार ॥ १७ ॥

जैसी सेवा (भक्ति) शिष्य करता है, तिसके अनुसार ही गुरु आदि से फल प्राप्त होता है, क्योंकि जो बोया जाता है, सोई लोवा (काटा-पाया) जाता है। सो विलोय (मथ-विचार) कर गुरु कहते हैं ॥ १५ ॥ जैसे लुहार के घन को घिस कर कुल्हारी नहीं किया जाता, तैसे श्रद्धादि रहित को गुरु से भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, न मन में प्रतीति होती है ॥ १६ ॥ परन्तु जैसे कोई निरन्तर उद्यम करने वाला घन को घिसने वाला मिले तो घन को घस कर भी उसमें धार निकाले (सिद्ध करे) तैसे श्रद्धादि सहित मूर्ख को भी सत्गुरु ने निरन्तर अभ्यासादि कराकर पण्डित किया, और पण्डित करने में बहुत बार नहीं लगी ॥ १७ ॥

धन धन सिष की सुरति को, सतगुरु लिये समाय।
अन्तर चितवन करत है, सुरत हि ले पहुंचाय ॥ १८ ॥

गुरु बिचारा क्या करै, बांस न इन्धन होय।
अमृत सींचे बहुत रे, बुन्द रही नहिं कोय ॥ १९ ॥
गुरु भया नहिं सिष भया, हिरदे कपट न जाव।
आलो पालो दुख सहै, चढि पाथर की नाव ॥ २० ॥

उस शिष्य की सुरति को बार-बार धन्यवाद है कि जो सुरति सद्गुरुरूप स्वामी को अपने अन्दर समाय लिया है, अन्दर में ही चितवन (ध्यान) करती है, वही सुरति जीव को लेकर मोक्ष भवन में तुरन्त पहूँचाती है ॥ १८ ॥ जैसे सार रहित बांस मलय के संग से भी चन्दन काष्ठरूप इन्धन नहीं होता, तैसे अविवेकी मुक्त नहीं होता, तो गुरु क्या करें, विवेकादि बिना बहुत सींचा हुआ अमृतोपदेश की कोई बुन्द भी वहां नहीं ठहरती है ॥ १० ॥ इससे वह शिष्य हुआ न गुरु हुआ, इस से हृदय के कपट भी नहीं जाता है, तिससे आलोपालो (आदि अन्त) में तथा क्षण २ दुःख सहता है। क्यों कि वह पाथर के नाव पर चढा है, देहाभिमानादि से युक्त है उसी से मोह वश सुखादि चाहता है ॥ २० ॥

चक्षु होय तो देखिये, युक्ती जाने सोय।
दो अन्धों को नाचनो, कहो काहि पर मोय ॥ २१ ॥

गुरु सो कीजै जानि के, पानी पीजै छानि।
बिना बिचारे गुरु करै, पड़ चौरासी खानि ॥ २२ ॥

गुरु तो ऐसा चाहिये, सिष सो कछू न लेय।
सिष तो ऐसा चाहिये, गुरु को सब कुछ देय ॥ २३ ॥

जिसको विवेक चक्षु (नेत्र) हो, सो सुमार्गादि को देखे और शिष्य हो, तथा ज्ञानादि सहित अन्य को समझाने की युक्ति हो तो सोई फिर गुरु भी होता है। इसके बिना दो अन्धों के नाचने के समान कौन किस पर मोहित (आसक्त) होगा सो कहो (विचारो समझो) ॥ २१ ॥ सो ज्ञान युक्तियुक्त गुरु समझ कर कीजै, जैसे पानी छान कर पीना धर्मशास्त्र से विहित है। तैसे गुरु विषयक विचार को भी समझना चाहिये, विचारने बिना गुरु करने से चौरासी खानि में पडता, सदा दुःख पाता है ॥ २२ ॥ गुरु के लोभ रहित ज्ञान तृप्त होकर परोपकारी होना चाहिये, और शिष्य को भी अनासक्त उदार स्वच्छ हृदय होना चाहिये ॥ २३ ॥

गुरु तुम्हारा कहाँ है, चेला कहाँ रहाय।
क्यों कर तो मिलना भया, क्यों आवै क्यों जाय ॥ २४ ॥

गुरु हमारा गगन में, चेला है चित्त मांय।
शब्द सुरति में मिलन ह्वे, रहै राम लौ लाय ॥ २५ ॥

नादी वादी बहु मिलै, करत कलेजे छेद।
तकथ तरै का ना मिलै, जासों पूछौ भेद ॥ २६ ॥

समझो कि तुम्हारा गुरु कहाँ स्थिर हैं, चेला कहां रहता है, और किस प्रकार से गुरु शिष्य का मिलन हुआ है, फिर किस प्रकार से शिष्य आता

जाता है ॥ २४ ॥ जाना कि गुरु चिदाकाश में रहते हैं, शिष्य चित्त में सावधान रहता है, गुरु के शब्द से सुरति (ध्यान) में सदा मिलन होता है, इससे राम में लौ लगाकर (प्रेम भक्ति युक्त होकर) शिष्य स्थिर रहता है, किसी अन्य में नहीं आता जाता है, इसके बिना ही आना जाना होता है ॥ २५ ॥ परन्तु ऐसा गुरु शिष्य का मिलन दुर्लभ है । क्योंकि नादी (नादाभ्यासी) और वादी (तर्कपरायण विवादि) बहुत मिलते हैं, जो कि कुतर्क युक्त कटु वचन भेदभावादि से शिष्य के हृदय में छेद (छिद्र-भेद-दुःख) करते हैं । प्रभु का तक्थ (हृदय) तर (पास) के भेदी (ममज्ञ) नहीं मिलते हैं कि जिनसे भेद पूछा जाय ॥ २६ ॥

तक्थ तरे की सो कहै, तक्थ तरे का होय ।
मांझ महल की को कहै, बांका पड़दा सोय ॥ २७ ॥

मांझ महल की गुरु कहै, देखा सब घर वार ।
कूंजी दीन्ही हाथ कर, पड़दा दिया उघार ॥ २८ ॥

बांका पड़दा खोलि के, सनमुख ले दीदार ।
बाल सनेही सांइयां, आदि अन्त का यार ॥ २९ ॥

हृदयागतात्मा की बात सोई कह सकता है कि जो हृदय के भेदी हों उसके विना मध्य महल (हृदय) की बात को कौन कह सकता है, क्योंकि सो हृदय बाँका (टेढा-सुन्दर) परदा युक्त है ॥ २७ ॥ जो गुरु सब घर (हृदय) और बार (द्वार) को देखा है, सो गुरु ही मध्य महल की बात को कहते हैं, ओर शिष्य के हाथ में भी कून्जी देकर मानो अपने कर (हाथ) से ही परदा को गुरु ने उघार दिया है ॥ २८ ॥ इससे ऐसा गुरु के मिलने पर बाँका परदा (आवरण) को खोल (नष्ट) करके शिष्य सर्वात्मा राम के सन्मुख दीदार (दर्शन) लेता (पाता) है । जो रामरूप स्वामी बाल्यावस्था के भी सनेही है, आदि अन्त के भी यार (मित्र-परम-प्रिय) आत्मा और ईश्वर है ॥ २९ ॥

कहाँ बुन्द सायर मिली, किहिविधि कौन सनेह।
यह मन में संशय भई, समुझि अरथ कहि देह ॥ ३० ॥

गगन बुन्द सायर मिली, उत्तम परम सनेह।
मन को संशय दूर करि, समुझि अर्थ यह लेह ।' ३१ ॥
एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबिर समाना बूझ में, तहां दूसरा नाहिं ॥ ३२ ॥

ऐसा होते भी यदि मन में यह संशय हुई है, कि कहाँ (किस) का बुन्द (अंश -प्रतिबिम्ब या आभास) जीव संसार समुद्र में पड़ कर इसमें मिली है, और किस प्रकार किस स्नेह से मिली है, तो इस अर्थ (संशय) को समझ कर गुरु से कहो (पूछो) ॥ ३० ॥ गुरु से समझो कि गगन (चिदाकाश) की बुन्द संसार में मिली है, सो संसार में परम उत्तमता आदि की बुद्धि से इसमें अत्यन्त स्नेह करके मिली है, मन के संशय को दूर करके समझ कर इस अर्थ को हृदय में धारण करो ॥ ३१ ॥ क्योंकि एक ही सत्यात्मा जीवादि रूप से सब भूत भौतिक में समाया है, और सब भूतादि उस आत्मा में समाये (कल्पित स्थिर प्रविष्ट) हैं। तहाँ जो उसके बूझ (विवेक विज्ञान) में समाता (स्थिर होता) है, तहां (उस) जीव में दूसरा भाव जन्मादि संसार नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

जिन ढूंढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न ड़रा, रहा किनारे बैठ ॥ ३३ ॥

गहिरा पानी में पैठकर खोजनेवाला जैसे समुद्र में रत्न पाता है, तैसे अन्तर्मुख वृत्ति करके खोजने वाला ब्रह्मात्मरत्न पाया, मैं बूड़ने से डरनेवाला (विषय चिन्तादि के त्याग में असमर्थ । पुरुष संसार तट पर योंही बैठा रह गया, यह शिष्य का कथन है ॥ ३३ ॥

इति गुरु शिष्य हेरा का अंग।

———

अथ हेतु प्रीति का अंग ॥ ६५ ॥

कबिर गुरु बसै बनारसि, सीष समून्दर तीर।
विसराये [1]नहिं विसरै, जो गुन होय शरीर ॥ १ ॥
लक्ष कोस जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार ह्वै, छिन आवै छिन जाय ॥ २ ॥
स्वामी सेवक एक है, जौं मत मत मिल जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥ ३ ॥

ज्ञान से तृप्त सतगुरु यदि बनारस (काशी) में बसते हों, और शिष्य समुद्र तट पर हो अर्थात् गुरु समाधिस्थ मुक्त हों, और शिष्य संसार व्यवहार में हो, तो भी यदि उसके शरीर में गुन (विवेक) रहता है, तो वे गुरु किसी विषयादि द्वारा विसारने (भुलाने) से भी नहीं भूलते हैं ॥ १ ॥ इससे यदि लक्ष कोश पर भी गुरु बसें, तो सुरति (मनोवृत्ति) को वहां पठा (भेज) देना चाहिये। वह सुरति गुरु शब्द रूप अश्व पर सवार हो कर छन २ में आ जा सकती है ॥ २ ॥ ऐसा करने से यदि मति में मति मिल जाय तो गुरु शिष्य एक स्वरूप हैं, क्योंकि सर्वात्मा गुरु रूप स्वामी चतुराई से नहीं प्रसन्न होते, किन्तु मन की भावना (भक्ति) से प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥

अधिक सनेही माछली, दूजा अलप सनेह।
जबही जलते बीछुरै, तबही त्यागै देह ॥ ४ ॥
कबीर ऐसी ना बदों, यह तन याही रीति।
मच्छ मरन्ता जब मरै, तब जानौ जो प्रीति ॥ ५ ॥

जैसे जल से अधिक प्रेमवाली मछली होती है। अन्य जीव अल्प प्रेम वाले होते हैं, इसी से मछली जब ही जल से पृथक् होती है, तभी देह को

---

१ बिसरे नहीं। पा० ॥

त्यागती है, और अन्य जीव नहीं त्यागते। मछली तुल्य गुरु प्रेमी सेवक को होना चाहिये ॥ ४ ॥ क्योंकि ऐसी (अन्य जीव तुल्य) प्रीति को ना बदों (नहीं गिनता हूँ), वह प्रीति वस्तुतः प्रीति नही है, किन्तु इस मानव तन में आ कर सद्गुरु आदि की भक्ति की यह मछली की ही रीति होनी चाहिये। इससे मच्छमरन्ता (मछली तुल्य) जब गुरुवियोग में मरता है, व्याकुल होता है, तब जाना जाता है कि इसमें सच्ची प्रीति है ॥ ५ ॥

क्या कपटी हाजिर बसै, सज्जन कोस हजार।
जो सागर के पार बस, मानो हृदय मझार ॥ ६ ॥

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की वात ॥ ७ ॥

चित चकोर चन्दा बसै, ज्ञानी के वस ज्ञान।
मूरख महँ हंसा बसै, सोइ हंस परमान ॥ ८ ॥

कपटी के गुरू के हाजिर (पास) में वसने से भी क्या फल है, और सज्जन के हजार कोस पर बसने से भी क्या हानि है। सज्जन यदि समुद्र के पार भी बसता है, तो मानो हृदय में ही रहता है ॥ ६ ॥ यह गुरु का तत्त्व और वह शिष्य का तत्त्व स्वरूप एक है, इससे गात (देह) मात्र दो है, प्राण (आत्मा) एक है, इसलिये अपने जिय (मन) से मेरे जिय की वात जानी जाती है ॥ ७ ॥ जैसे चकोर का चित्त चन्द्र में वसता है, तैसे ज्ञानी का चित्त ज्ञान स्वरूपात्मा में बसता है; इससे मूर्ख में भी ज्ञानी हंस ज्ञान में ही वसता है, मूर्ख के संग में भी अनात्म-परायण नही होता है। इसलिये सोई प्रामाणिक हंस है (विवेकी ज्ञानी है) ॥ ८ ॥

हम तुम्हरो सुमिरन करैं, तुम मोहिं चितवत नाहिं।
सुमिरन मन की प्रीति है, सो मन तुमही माहिं ॥ ९ ॥

धरती अभरन पहिरिया, आवत सुनिया वाहि ।
दादुर मोर पपीहरा, मिले अगाऊ जाहि ॥ १० ॥

हम शिष्य तुम्हारा (गुरु सत्य प्रभु का) स्मरण करते हैं। तुम यदि मन उपाधि रहित होने से मुझे नहीं चितवते (शोचते देखते) हो, तो भी हे प्रभो ! स्मरण तो मन की प्रीति रूप है, सो मेरा मन तेरे पास में है, इसी द्वारा मेरी चिन्ता कर सकते हो ॥ ९ ॥ क्योंकि ज्ञानी गुरु अवतारादि रूप से उस प्रभु को आता हुआ सुन कर धरती (भूमि-स्थूल देह) भी आभरण (भूषण-वेष) पहिरी है, भूषण युक्त के समान शोभती हैं। वर्षा ऋतु रूप से आते हुए को सुनकर दादुर मोर पपीहा आदि भी मिलने के लिये आगे जाते हैं, तथा शरीर के आभरण युक्त होने पर, दादुर (मन) मोर (बुद्धि), और पपीहरा (वाक्) भी ध्यान निश्चय स्तुति द्वारा आगे जाकर जिस प्रभु से मिलते हैं, सो प्रभु मेरे मन से ही मेरी चिन्ता आदि कर सकता है ॥ १० ॥

मेरा मन जो तूझ में, तेरा मन कहूं और ।
कहैं कबिर कैसे बनै, एक जीव दो ठौर ॥ ११ ॥

प्रीति जु लागी प्रेम की, पैठि गई मन माहिं ।
रोम रोम पिव पिव करै, मुख की हाजत नाहिं ॥ १२ ॥

जो जागत सो सपन में, ज्यों घट भीतर सांस ।
जो जन जाको भावता, सो जन ताके पास ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! मेरा मन जो तुम में गया सो तेरा होकर यदि तुझ में नहीं रहे, किन्तु कहिं अन्य वस्तु में जाय, तो एक जीव को उस मन द्वारा दो स्थान में रहना कैसे बनेगा, इसलिये उस मन को तुम में ही रहना ठीक है ॥ ११ ॥ इस प्रकार जो प्रेम भक्ति की प्रीति जीव को लगी, वह प्रीति मन में पैठ गई (निश्चित हुई) तब वह मन रोम २ में पिव २ करता

है, मुख की जरूरत नहीं रहती है ॥ १२ ॥ वह मन जो जागते में देखता है, सोई स्वप्न में भी इस प्रकार देखता है कि जैसे घट के भीतर में प्राण को देखता है, लोक में भी जो जन जिसके भावते (प्रेमी) हैं, सो जाग्रत स्वप्न में उसके पास में प्रतीत होते हैं ॥ १३ ॥

जल में बसै कुमोदिनी, चन्दा बसै अकास।
जो जन जाके मन बसै, सो जन ताके पास ॥ १४ ॥

एक जोति दो नेत्र है, एक बात दो कान।
एक प्रीति दो सज्जना, दो घट एकै प्रान ॥ १५ ॥

हेतु माहिं पड़दा नहीं, शब्द माहिं नहिं राय।
[1]समुझे घट का यह मता, बोलैं एकै भाय ॥ १६ ॥

जैसे जल में कुमुद बसता है, चन्द्र आकाश में बसता हैं, परन्तु प्रेम से समीपता है। तैसे ही जो जन जिस के मन में बसता है, सो उसके पास में ही है ॥ १४ ॥ जैसे नेत्र के गोलक दो हैं, परन्तु ज्योति (दर्शनशक्ति) एक ही है, तथा कान दो है, परन्तु बात (शब्द ज्ञान शक्ति) एक है तैसे ही दो सज्जन में प्रीति रूप मन एकहैं, और दो घट में प्राण एक है ॥१५॥ क्योंकि हेतु (प्रीति) में परदा (व्यवधान) नहीं है, और सत्य शब्द में किसी का राय (विचार-सम्मति) की जरूरत नही है, क्योंकि समझवाले अनेको घट (हृदय) का यह मता (निश्चय) है कि वे सब एक भाव (तात्पर्य) से एक भाव (सत्य वस्तु) को बोलते हैं, इससे संशय का अवसर नहीं रहता है, इसलिये राय की आवश्यकता नहीं होती है ॥ १६ ॥

कबीर सज्जन हेम जस, टूट मिलैं सौ बार।
मूरख घट कुम्भार का, एकै धका दरार ॥ १७ ॥

---

१ हेत प्रीति तब जानिये । पा० ॥

प्रीति जु तासो कीजिये, आप समाना होय।
कबहूं कें अवगुन पड़ै, गुन महँ लेय समोय ॥ १८॥

प्रीति जु ऐसी चाहिये, बैर न एको ठाम।
घर घर मीत न कर सकै, एक मीत एक गाम ॥ १९ ॥

सज्जन लोग सुवर्ण तुल्य होते हैं, इससे व्यवहार काल में सैकड़ों वार प्रेमादि से टूट कर मिलते हैं, और मूर्ख कुम्हार का पक्का घट तुल्य होता है, जिससे किसी एक ही विघ्न के आने पर सर्वथा प्रेम रहित होता है ॥ १७ ॥ इसलिये प्रेम उससे करना चाहिये कि जो अपने समान (अपने स्वरुप में प्रविष्ट) हो। इसलिये शिष्य में कभी अवगुण प्राप्त हो, तो उसे अवगुण रहित करके सद्गुण में समाय ले, अपराध की क्षमा करें ॥ १८ ॥ प्रीति ऐसी होनी चाहिये कि जिससे एको स्थान में वैर नहीं रहे, और सब गाम के सब घर में मित्र नहीं बन सके, तो एक ग्राम में एक मित्र अवश्य बनावे। अर्थात् एक सद्गुरु एकात्मा राम को अवश्य मित्र बनावे ॥ १९ ॥

सुख ही में दुख वाढिया, बहुतक बाढी प्रीति।
तिहि धन को सांई मिले, तौ घटये रंग रीति ॥ २० ॥
धनवन्ता अचेत अहै, खसम मिलै क्यों आय।
तिहि धन को सांई मिलै, यह सुख कहा न जाय ॥ २१ ॥

पूरे की पूरी दशा, पूरा ह्वै सो पाय।
कहैं कबिर सुनु साधु हो, पूरा ह्वै सो खाय ॥ २२ ॥

एकात्मा राम की प्रीति विना बहुत प्रीति बढने से सुख में ही दुःख बढा, और दुःख में पडा हुआ उस धन युक्त को भी स्वामी (रक्षक) गुरु ईश्वर कौन मिलता है, अर्थात् कोई नहीं मिलता है। यदि कोई मिले तो भी रंग (प्रेम) की रीति घटती नहीं है ॥ २० ॥ क्योंकि धनवाला अचेत रहता है, तो उससे खसम उचित रीति से कैसे आकर मिल सकता है।

यदि प्रबल कर्म संस्कारादि वश धनवान् भी सचेत हो, और उस धनवान् को भी स्वामी मिले, उचित रीति से प्राप्त हो, तो यह परम सुख वाणी का विषय नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥ पूरे गुरु की पूर्ण दशा (अवस्था) को धनी या गरीब जो पूरा शिष्य होता है सो पाता है। इसलिये सद्गुरु का उपदेश है कि पूर्ण शिष्य हो कर श्रवणादि करो, क्योंकि श्रवणादि से जो पूर्ण ज्ञानी होता है सो पूर्णानन्द का अनुभव करता है ॥ २२ ॥

मिलना जग में अनूप है, मिलि बिछुरो मति कोय।
बिछुरा साजन तब मिलै, जब माथे मनि होय ॥ २३ ॥

जो मीलै सो प्रीतमा, और मिलै सब कोय।
मनसो मनसा ना मिलै, देह मिले क्या होय ॥ २४ ॥

जो दिल दिल ही में रहै, सो दिल दूरि न जाय।
जो दिल दिल सो बाहरे, सो दिल कहां समाय ॥ २५ ॥

सद्गुरु सन्त सत्यात्मा से मिलना जगत में अनुपम पदार्थ है, परन्तु मिलकर सज्जन से कभी बिछुड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि बिछुड़ा हुआ सज्जन फिर तभी मिलता हैं कि जब माथे में मणि (भाग्य-प्रकाश) होता है ॥ २३ ॥ जो भाग्य वाला को मिलता है, सो प्रियतम आत्मस्वरूप ही मिलता है, और (अन्य) कुछ अन्य सबको मिलता है, क्योंकि सबके मन से सबका मन यदि नहीं मिलता है, मन में प्रेमादि नहीं होता है, तो देह के मिलने से भी कोई फल नहीं होता है ॥ २४ ॥ जो दिल (मन) दूसरे दिल से मिलकर उसीमें स्थिर रहता है, गुरु का दिल के अनुसार साक्षी में ठहरता है, सो दिल फिर दूर संसार में नहीं जाता है। जो दिल दिल से बाहर भटकता है, सो कहाँ समा (स्थिर लीन हो) सकता है, ॥ २५ ॥

जैसी प्रीति कुटुम सो, तैसी हरि सो होय।
कहैं कबिर वा दास के, काज न बिगरै कोय ॥ २६ ॥

ससारी को जैसी प्रीति कुटुम्ब से होती हैं, तैसी ही प्रीति यदि भक्त को हरि से हो तो उस भक्त का कोई कार्य नहीं बिगड़ता है ॥ २६ ॥

हरि सो तूं जनि हेत कर, कर हरिजन सो हेत।
माल मुल्क हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत ॥ २७ ॥

सोऊँ तो स्वपने मिलै, जागूं तो मन माहिं।
लोचन राता शुभ घरी, बिछुरत कबहु नाहि ॥ २८ ॥

परन्तु प्रथम तुम हरि से प्रीति नहीं करके हरिजन से प्रीति करो, और समझो कि प्रीति से प्रसन्न होने पर हरि मुल्क (संसार) के माल (सम्पत्ति) देते हैं कि जिससे अज्ञ प्राणी फिर अचेत हो जाता है। हरिजन हरि के यथार्थ अनुभव देकर हरि की प्राप्ति कराते हैं कि जिससे कभी अचेत नहीं होकर मुक्त होता है ॥ २७ ॥ हरिजन से अनुभव मिलने पर सपनावस्था में भी हरि स्वप्ने में मिलते हैं, और जागने पर सदा मन में साक्षी रूप से भासते हैं, नेत्र भी बाहर सच्चिदानन्द हरि में राता (प्रेमयुक्त) रहता है। इससे हरि कभी कहीं भी नहीं बिछुड़ते हैं, सदा सर्वत्र शुभ ही घड़ी (समय) रहता है ॥ २८ ॥

इति हेतु प्रीति का अंग।

———

अथ शूरता का अंग ॥ ६६ ॥

सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरजा पुरजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाड़े खेत ॥ १ ॥

खेत न छाड़ैं सूरमा, जूझै दो दल माहिं।
आशा जीवन मरन की, मन में राखै नाहि ॥ २ ॥

कायर हुए न छूटि है, कूचि सुरातन माहिं।
भरम भलाका दूर करि, सुमिरन सेल सनाहि ॥ ३ ॥

जैसे राजपुरुष राजा के लिये लड़ता है, तैसे सर्वात्मा धनी (स्वामी) की प्राप्ति के लिये जो मन इन्द्रियादि से लड़ता है, सोई शूर (धर्म कर्म वीर) सराहने योग्य है। वह पुरजा २ खण्ड २ हो कर रोगादि वश गिर पड़ने पर भी खेत (युद्धस्थान-सिद्धस्थान-लक्ष्य) को नहीं छोड़ता है (पड़ै-के रहै) पाठान्तर है॥ १॥ शूर खेत (क्षेत्र) को नहीं छोड़ता, विवेक कामादि दोनों दल के मध्य में इन्द्रियादि से युद्ध करते हैं, और जीवन मरण की आशा भयादि मन में नहीं रखते हैं॥ २॥ क्योंकि कायर होने से छुटकारा (मोक्ष) नहीं है, इससे सुरातन (शूर समूह) में कूच (यात्रा) करना ही उचित है। भ्रम रूप शत्रु के भलाका (भाला) को दूर कर के स्मरण रूप सेल (त्रिशूल) को संभारना चाहिये। (भरम भूल को दूर करि, सुमिरन लेहु सनाहि) यह पाठान्तर है। तब सनाह का कवच अर्थ है॥ ३॥

कबीर सोई सूरमा, मन सो मांड़ै जूझ।
पांचों इन्द्रिय पकार के, दूरि करै सब दूझ॥ ४॥

सूरा जूझै गिरद सो, इक दिश सूर न होय।
युद्ध बिहूना सूरमा, भला न कहसी कोय॥ ५॥

कबीर रन में [1]आय के, पीछै रहै न सूर।
साँई के सनमुख [2]रहै, जूझै सदा हजूर॥ ६॥

वस्तुतः वही वीर है, जो मन के साथ युद्ध मांडता (करता) है। सोई पुरुष पांचों इन्द्रिय को वश में करके, सब दूझ (दुःख-ताप-द्वैत दाह) को दूर करता है॥ ४॥ वह वीर गिरद (सब तरफ) से युद्ध करता है, क्योंकि एक दिशा में लड़ने वाला वस्तुतः शूर नहीं होता है, और ऐसा युद्ध से रहित (लोक परलोकादि सर्वमुखी बुद्धि रहित) को कोई भला नहीं कहता है (यों जूझै बिनु बाहरा) यह तृतीय चरण के पाठान्तर है, ऐसा

१ पैठि। पा०॥ २ भया, रहसी स०। पा०॥

युद्ध बिना वह बहिर्मुख है ॥ ५ ॥ इस युद्ध में आकर जितेन्द्रिय पुरुष पीछे (अनात्मपरायण-पराधीन) नहीं रहता है। किन्तु स्वतन्त्र सर्वात्मा स्वामी के सनमुख रहता है, और सदा स्वामी की उपस्थिति काल में ही मन से युद्ध करता है, निर्भय रहता है ॥ ६ ॥

गगन दमामा बाजिया, पड़ा निसाने घाव।
खेत पुकारै सूरमा, अब लडने का दाव ॥ ७ ॥
गगन दमामा बाजिया, कल हलिया के कान।
सूरा [1]घना बधावना, कायर तजसी प्राण ॥ ८ ॥
गगन दमामा बाजिया, परा निसाने चोट।
कायर भागै कछु नहीं, सूरा भागै खोट ॥ ९ ॥

साईं के सन्मुख युद्ध से गगन में अनहद नाद रूप दमामा (नगारा) बजने लगा निसाने (लक्ष्य) पर घाव (ध्यान) पड़ा (लगा) या ढोल पर चोट पड़ा, इस अवस्था में क्षेत्र में स्थिर सूर पुकारता है, कि अब लड़ने का दाव (अवसर) है ॥ ७ ॥ गगन में दमामा बाजा जो कल (मधुर ध्वनि) कान के अन्दर हलिया (पैठा) उसे सुनकर शूर को तो घना (बहुत) बधावना (उत्साह) हुआ, परन्तु कायर उसे सुनकर प्राण ही त्यागेगा। (हन हनिया के कान) पाठान्तर है, कान के हनन बधिर करने वाला ॥ ८ ॥ गगन में दमामा बाजने और निसान में चोट परने पर भी यदि कायर (अविवेकी) भागै (अभ्यासादि को त्यागै) तो कोई बात नहीं है, परन्तु विवेकी भागै तो खोट (दोष) है ॥ ९ ॥

सूरा सार सँभारिया, पहिरा सहज सँयोग।
ज्ञान गयंदा चढ़ि चला, खेत परन का योग ॥ १० ॥
मेरे संशय कोइ नहीं, लागा हरि सो हेत।
काम क्रोध सो जूझना, चौड़े मांडा खेत ॥ ११ ॥

१ घरे। पा० ॥

कोने पैठ न छूटिये, सुन रे जीव अबूझ।
कबीर मांड़ मैदान में, कर इन्द्रिय सो जूझ॥ १२॥

सूर (विवेकी) जीव सार (सत्य) शब्द अर्थ को संभारा (समझा) और सहज समाधि नामक सम्यक् योग (ध्यान) रूप कवच पहिरा, फिर ज्ञान रूप गयंद (हाथी) पर चढ कर मोक्ष भवन में चला, अब केवल खेत (देह) पड़ने का ही योग बाकी है॥ १०॥ इस प्रकार ज्ञानरूढ मुझ को कोई संशय नहीं रहा, सर्वात्मा हरि से हेत (प्रेम) लग गया, काम क्रोधादि से युद्ध के लिये भी चौड़े (मैदान) में खेत (स्थान) माड़ा (निश्चय किया) है॥ ११॥ घर के कोने में पैठकर (देहाभिमानी होकर) कामादि शत्रुओं से नहीं छूटोगे, रे अविवेकी जीव ! इस बात को श्रवण करो, और मैदान (विभु स्वरूप) में स्थिर होकर कामादि से युद्ध मांडो (ठानो) तथा इन्द्रियों से युद्ध करो। "ओटा लिया न ऊगरै, सुन रे मनुवा बूझ। निकसि रहो मैदान में, कर पांचो से युद्ध।" यह पाठान्तर है। (ऊगरै-उद्धरै उबरे)॥ १२॥

अब तो ऐसी ह्वै परी, मनुआँ निश्चल कीन्ह।
मरने का भय छाड़ि के, हाथ सिंघोरा लीन्ह॥ १३॥

कायर बहुत पमोवई, अधिक न बोलै सूर।
सेल झमक्के जानिये, जाके मुहडे नूर॥ १४॥

ज्यों ज्यों हरि गुन संभलै, त्यों त्यों लागै तीर।
लागै ते भागै नहीं, सोइ सन्त मति धीर॥ १५॥

मैदान में युद्ध मांडने पर अब तो ऐसी बात ह्वै पड़ी कि मन को निश्चल किया, और मरने का भय को त्याग कर मानो बुद्धि भी सती होने के लिये हाथ में सिंधोरा ले लिया (आत्मा में लय के लिये उन्मुख हो गई)॥ १३॥ अविवेकी बहुत प्रमाद प्रलाप करता है, विवेकी अधिक नहीं बोलता, परन्तु

सेलादि अस्त्र शस्त्र के झमकने (चलने) पर जाना जा सकता है, कि जिसके मुखमें उस समय भी नूर (प्रकाश-तेज) रहता है, सो सच्चा सूर है, तैसे सदा चिन्ता रहित ज्ञानी है। "सार खलक के जानिये, किहि के मुहड़ै नूर" यह पाठान्तर है। ससारी को सार (लोहा) तुल्य जानो, काला समझो ॥ १४ ॥ संसारी भी ज्यों २ हरि के गुन को संभालता है, त्यों २ संसार कालिमा के किनारे लगता है। या तीर (बान) लगता है। तीर लगने पर फिर संसार में नहीं भागता, सोई धीर बुद्धिवाला सन्त होता है। "लागै पन भागै नहीं, सोई साधु सुधीर" यह पाठान्तर है ॥ १५ ॥

जिन जस हरिगुन संभलो, ताको तैसा तीर।
सांठी सांठी झरि पडी, भलका रहा शरीर ॥ १६ ॥

ऊंचा तरुवर गगन फल, [1]पंखी मूआ झूर।
बहुत सयाने पचि गये, फल निर्मल पै दूर ॥ १७ ॥

जिन लोगों ने जिस प्रकार ससंग असंगादि समझ कर हरि गुन को सभाला, तिनको तैसा हां तीर (तट मोक्ष) मिला, या तैसा ही उपदेश रूप बाण लगा, और सांठी २ शब्दादि रूप विस्तार असार झर कर गिर गया, बाहर रह गया, परन्तु भलका (भाला-संभार के अनुसार निश्चय) शरीर में रह गया (ज्यों ज्यों गुरुजन संभालौं) इस प्रकार दोनों साखी के पाठान्तर है ॥ १६ ॥ यह मानव देह और संसार बहुत ऊंचा वृक्ष है, इसके गगन (ऊर्ध्व भाग) में तथा चिदाकाश में आनन्दादि रूप फल वर्तमान हैं। परन्तु अज्ञ जीव रूप पक्षी झूर (तृषार्त) होकर मरता है, हरिगुणादि को संभालने बिना बहुत चतुर भी उस फल के लिये पच मरे, परन्तु नहीं पाये, क्योंकि वह फल निर्मल है, और सर्व साधारण के लिये है, परन्तु दूर है 'एक दूरि चाहै सब कोई' इत्यादि बीजक शब्द में है ॥ १७ ॥

---

१ पंथी। पा० ॥

दूर भया तो क्या भया, [1]सिर दिय नियरा होय ।
जब लगि सिर सौपै नहीं, तब लगि सिद्ध न होय ॥ १८ ॥

कहि दरबारी बातरी, क्यों पावै वह धाम ।
सीस उतारैं संचरै, नहीं और का काम ॥ १९ ।

सूरा सीस उतारीया, छाड़ी तन की आस ।
आगे सो हरि हर्षिया, आवत देखा दास ॥ २० ॥

दूर होने से कोई दोष नहीं है, शिर देने (अभिमान छोड़ने) से समीप हो जाता है, शिर सौपने बिना सिद्ध (मुक्त) नहीं होता "चाख सकै नहिं कोय" यह चतुर्थपाद का पाठान्तर है ॥ १८ ॥ दरबारी (हृदय महल की) बातरी (कथा) महात्माओंने कही है कि वह धाम किस प्रकार पाया जाता है कि जब शिर उतारै तब वहां संचार (प्रवेश) करता है, अन्य का वहां काम नहीं है ॥ १९ ॥ जो सूर (विवेकी) अभिमान को त्यागा, सो तन की आशा को छोड़कर मानो शिर उतार डारा, उसे स्वस्वरूप में आते हुए देखकर सर्वात्मा हरि गुरु आगे (प्रथम) से ही परम हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २० ॥

सीतलता संयोग ले, सूर चढै संग्राम ।
अबकी [2]भाजन पड़त है, शिर साहब के काम ॥ २१ ।
धड़ से शीस उतारि के, डारि देय ज्यों ढेल ।
कोइ सूर को सोहसी, घर जाने का खेल ॥ २२ ॥
सूरा को तो शिर नहीं, दाता को धन नाहिं ।
पतिवरता को तन नहीं, जीव बसै पिव माहिं ॥ २३ ॥

संतोष क्षमा शान्ति का संयोग (संग्रह) ले कर विवेकी संग्राम (युद्ध) में चढता है, क्योंकि अबकी बार (मनुष्य जन्म में) ही भाजन (देहरूप

---

१ सतगुरु मेला सोय । शिर सौंपे उन चरन में, कारज सिद्धो होय ॥ पा०॥
२ अबकी भाजन अबकी बेर, यह टिप्पण है ।

पात्र) और शिर साहब के काम (प्रयोजन) में अड़ता (आता) है (सरत है) पाठान्तर है ॥ २१ ॥ अभिमान को त्याग कर तुच्छ वस्तु तुल्य जो उसे डार देता है, ऐसे किसी सूर को हृदय महल में जाने का खेल (लीला) भी शोभेगा ॥ २२ ॥ ऐसे सूर को शिर का भय अभिमान नहीं रहता, सच्चा दानी को धन का मोह अभिमान नहीं रहता है। पतिव्रता सती को देह के होश अभिमानादि नहीं रहता है, क्योंकि उसके जीव (मन) प्रिय पति में बसता है, ज्ञानी भक्त ब्रह्म ईश्वर निष्ठ रहते हैं। "दाता के तो धन घना, शूरा के शिर बोस। पतिवरता के तन सही, पत राखें जगदीश ॥" यह साखी है ॥ २३ ॥

सीस खिसै सांईं लवै, भल बांका असवार।
कमद कबीरा किल किया, केता किया सुमार ॥ २४ ॥

भक्ति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथ सो, सो लेसी हरि नाम ॥ २५ ॥

भक्ति दुहेली राम की, जस खांडे की धार।
जो डोलै सो कटि परै, निश्चल उतरैं पार ॥ २६ ॥

अभिमान छूटै तो सर्वात्मा स्वामी को देखै, तथा स्वामी को देखे तो सर्वथा अभिमान छूटै, इसलिये भला (योग्य) बांका (सुन्दर-चतुर) मन इन्द्रिय पर असवार रूप शूर होना चाहिये कि, जिस कबीरा (जीव) के कमद (अभिमान रूप शिर रहित धड़) किलकार (आनन्द का शब्द) करे, और कितने कामादि शत्रुओं का सुमार (गिनती पूर्वक नाश) किया करे ॥ २४ ॥ अभिमानादि त्यागे बिना ऐसी राम की भक्ति दुहेली (कठिन) है। इसमें कायर का काम नहीं है, हाथ (निरन्तर विचारादि) से अभिमानादि को त्यागे, सो भक्ति करेगा ॥ २५ ॥ खांडा (तरवार) डोलै (संशय अभिमादि करै) सो भक्ति से च्युत होय, दृढ़ विश्वासादि वाला पूर्ण भक्त मुक्त होय ॥ २६ ॥

भक्ति दुहेली राम की, जैसे अग्नि की झार ।
डाग पडा तो ऊबरा, दाझे कौतुक हार ।। २७ ।।

कबीर घोडा प्रेम का, चेतन चढि असवार ।
ज्ञान खडग ले काल शिर, भली मचाई मार ।। २८ ।।

चित चेतन ताजी करो, लव का करो लगाम ।
शब्द गुरू का ताजना, पहुँचे सन्त सुजान ।। २९ ।।

अग्नि की झार (लपट) के समान राम की भक्ति कठिन है । यदि इस में प्रेम से डाग (पैर मन) पडा तो उबरा, और प्रेम बिना कौतुक देखने वाला दग्ध हुआ, या प्रेम डाग (जलाशय) में पड़ा तो उबरा ।। २७ ।। प्रेम के घोड़ा पर सचेत जीव असवार रूप से चढ कर, तथा ज्ञान खड्ग को लेकर काल के शिर पर भली मार मचाता है ।। २८ ।। चित्त को चेतन (सावधान) करके ताजी घोड़ा करा, और लव (ध्यान) का लगाम करो, फिर गुरु का शब्द को ताजना (चाबुक) बना कर सुजान सन्त अपने स्थान पर पहुँचते हैं (सुजान के सुठाम) पाठान्तर है ।। २६ ।।

कबीर तुरी पलानिया, चाबुक लीन्हा हाथ ।
दिवस थका साईं मिले, पीछे पड़सी रात ।। ३० ।।

हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी, बासक पीठ पलान ।
चान्द सूर्य दोउ पायड़ा, चढ़सी सन्त सुजान ।। ३१ ।।

जीव जब गुरु के शब्द रूप चाबुक को हाथ में लिया (धारण निश्चय किया) तब प्रेम रूप तुरी (घोड़ी) स्वामी के तरफ पलानिया (भग चली) फिर दिवस थका (ज्ञान की अन्तिम अवस्था आई) और सर्वात्मा स्वामी सन्मुख मिल गये । जो स्वामी से पीछे रहा, वह अज्ञान रात्रि में पडेगा । तथा दिवसान्त रूप मरण काल तक युद्ध में थकने वाले स्वामी से मिले, युद्ध बिना तो पीछे रात्रि में प्राप्त होंगे ।। ३० ।। इस युद्ध में हरि (सात्त्विक

प्रेम) घोड़ा होता है । ब्रह्म (राजस दानादि प्राणायाम तपःस्वाऽध्यायादि कर्म) कडी (जंजीर) होता है, और बासक (बासुकि-सर्पराज-तथा [1]अनन्त शेष, ओर स्थिति [2]युक्त विरक्त के चिन्तन संगादि) को उस घोड़ा की पीठ के पलान (जीन) करते हैं, चान्द सूर्य नाड़ी को दो पायडा (रिकाब) बनाकर सुजान सन्त उस पर चढते हैं ॥ ३१ ॥

कबीर हीरा बनिजिया, महगें मोल अपार ।
हाड गली माटी मिला, सिर साटे व्यवहार ॥ ३२ ॥

लालच क्षोभ न मोह मद, एकल भला अनीह ।
हरि जन ऐसा चाहिये, जैसा वन का सिंह ॥ ३३ ॥

जेता तारा रैन का तेता वैरी मुझ्झ ।
धड़ सूला सिर कंगुरे, तउ न बिसारूं तुझ्झ ॥ ३४ ॥

उक्त स्वामी रूप हीरा की बनीजी (व्यापार) किया गया है, जो हीरा महगें हैं, जिसका अपार मोल है उसका मोल रूप प्रेम ज्ञानादि के लिये हाड गलाकर माटी में मिलाना पड़ा, और शिर के बदले व्यवहार किया गया है, सर्वाभिमान त्यागा गया है ॥ ६४ ॥ उस हरिजन में लोभ, चांचल्य, मोह, मद नहीं होना चाहिये । अनीह (निरिच्छ) होना चाहिये और ऐसा एकल भला (एकाकी शुभ होना चाहिये कि जैसा बन का सिंह हो ॥ ३३ ॥ हरिजन का निश्चय है कि यद्यपि जितने रात के तारे हैं, उतने (अनन्त) कामादि मेरे वैरी हैं; उनके द्वारा यदि मेरा धड़ सूली पर चढाया जाय, और शिर कंगुरे (कोटादि के शिखर) पर फेंक दिया जाय तौभी मैं तुझको नहीं भूलूंगा ॥ ३४ ॥

चौपड मांडी चौहटे, अरध उरध बाजार ।
कबिरा खेलै [3]नाम सों, कबहुँ न आवे हार ॥ ३५ ॥

---

१ प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् । योगसू० २ । ४७ ॥

२ वीतरागविषयं वा चित्तम् । योगसू० १ । ३७ ॥ ३ राम । पा० ॥

जौं [1]हारौं तो सेव हरि, जो जीतौं तो दाव।
पार ब्रह्म सो खेलता, सिर जावै तो जाव॥ ३६॥

टूटै बरत अकाश सो, कौन सकत है झेल।
साधु सती अरु शूर का, आनी ऊपर खेल॥ ३७॥

हृदय सत्सङ्गादि रूप चौहटे में नीचे ऊपर के संसार में ज्ञान ध्यानादि का चौपड़, खेलना ठाना है, कि जहाँ जीव नाम द्वारा खेलता है कि जिस खेल में कभी हार नहीं आता है॥ ३५॥ यदि कभी हारता भी है तो फिर भक्ति करता है, और जीतता है तो दाव (मोक्ष) पूरा होता है। इससे पार ब्रह्म से खेलते में यदि शिर भी जाय तो भला ही है। उसे जाने देना चाहिये॥ ३६॥ आकाश से बरते (प्रकाशते) हुए तारे ग्रह यदि टूटै, तो उन्हें झेल (रोक) कौन सकता है, ऐसा ही साधु सती और सूर का खेल (व्यवहार) आनी (बरछी का नोक) के ऊपर का प्रकाश हैं। उसे दूसरा कौन झेल सकता है। अथवा नट के आकाश का बरत (वांस का रस्सा) टूटे, तो उसे कौन झेल (रोक) सकता है॥ ३७॥

प्रगट राम कहँ छानये, राम नाम कहँ धाय।
फूसक घोड़ा दूर कर, बहुरि न लागै लाय॥ ३८॥

आप स्वारथी मेदनी, भक्ति स्वारथी दास।
कबीरा नाम स्वारथी, डारी तन की आस॥ ३९॥

सांईं सेंति न पाइये, बात मिलै न कोय।
कबिरा सौदा नाम का, शिर बिनु कबहु न होय॥ ४०॥

साधु राम को प्रकट छानता (खोजता करता) है, और रामनाम काही ध्यान करता है। फूस (घास) के घोड़ा तुल्य देह को दूर करता है. इसका अभिमान नहीं करता है, इसीसे फिर लाय (अग्नि ताप) नहीं लगता है

[1] हारौं तो हरि मान है। पा०॥

॥ ३८ ॥ क्योंकि पृथ्वी आप (जल) के स्वार्थी (इच्छुक) हैं, और दास (भक्त) भक्ति के स्वार्थी है, तैसे ही जो जीव रामनाम के स्वार्थी हैं, सो देह की आशा को त्याग दिया है ॥ ३९ ॥ क्योंकि रामस्वरूप स्वामी सेति (सहज) में नहीं पाया जाता है। बातों से वह किसी को नहीं मिलता है, हे जीव ! नाम का सौदा शिर सौंपने (अभिमान त्यागने) बिना कभी नही होता है ॥ ४० ॥

भागै भली न होयगी, कहाँ धरोगे पांव।
सिर सौंपो सीधे लड़ो, काहे करो कुदाव ॥ ४१ ॥
भागै भली न होयगी, मुंह मोड़ै घर दूर।
साईं आगे सीस दे, शौच न कीजै सूर ।। ४२ ॥
सूरा सनमुख बाहता, कोइ न बांधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥ ४३ ॥

शिर न सौंप कर कहीं भागने से भी भली बात (कल्याण) नही होगी, राम से विमुख होने पर पाँव धरने का भी कहाँ जगह है, इसलिये शिर सौंप कर सीधा (कपटादि रहित) लड़ो (सत्संग विचारादि करो), कुदाव क्यों करते हो, कायरता अकर्मण्यता छोड़ो ॥ ४१ ॥ भागने से भली बात नहीं होगी, विचारादि से मुख (मन) को मोड़ने (हटाने) पर सत्य स्वरूप घर दूर हो जायगा, इसलिये हे सूर ! स्वामी के आगे शिर को अर्पण करो, और शोच (चिन्ता) नहीं करो ॥ ४२ ॥ सूर (जितेन्द्रिय) पुरुष कामादि शत्रु पर, सनमुख तीर तरवार रूप विवेक विज्ञानादि को बाहता (चलाता-प्रहार करता) है। जिससे उसके सामने मोह मदादि कोई शत्रु धैर्य नहीं बांध (धर) सकते, क्योंकि (शत्रु) का दल को मोरना (हटाना) और रन में अटल रहना, ऐसा स्वभाव ही दास का होता है ॥ ४३ ॥

सूर सनाह न पहिरई, मरता नहीं डराय।
कायर भागा पीठ दे, सूर मुँहामुँह खाय ॥ ४४ ॥

कबीर हरि सब को भजै, हरि को भजै न कोय ।
जब लो आश शरीर की, तब लग दास न होय । ४५ ॥

भक्ति दुहेली राम की, कठिन खेल बल काम ।
निस्प्रेही निरधार को, आठ पहर संग्राम ॥ ४६ ॥

सूर (विवेकी) काल कामादि से बचने के लिये सनाह (कवच) नहीं पहिरता (देहाभिमानी नहीं होता) है, कायर कवच पहिर कर ही पीठ देकर भागता है, और सूर तो मुहांमुंह (सनमुख) ही कालादि को खा जाता है ॥ ४४ ॥ " ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । भ० गी० अ० ४।११ इत्यादि वचनों के अनुसार हरि सबको भजते हैं, परन्तु कवच रहित होकर कोई हरि को नहीं भजता है, इससे देह की भी आशा जब तक है, तब तक भक्त नहीं होने पाता है ॥ ४५ ॥ राम की उक्त भक्ति कठिन है, और उस भक्ति में कठिन (अत्यन्त) बल के काम (जरूरत) है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । मुण्डक २ । ३ ४ " इत्यादि श्रुति बचन है । उस में निस्पृहता, निश्चय विश्वास, निरन्तर संग्राम रूप बल चाहिये ॥ ४६ ॥

योग बुरा जौहर भला, घडी एक का काम ।
आठ पहरका जूझना, बिनु खांडे संग्राम ॥ ४७ ॥

खांडा तिस को बाहिये. जो फिर खांडा देइ ।
कायर को क्या बाहिये, दांत तीनुका लेइ ॥ ४८ ॥

योग बुरा जौंहर भला, एक घड़ी का दूख ।
अति तन को लोहू करै, विरह लागि मन ऊख ॥ ४९ ॥

इससे यह भक्ति योग बुरा (कठिन) है, और जौहर (पति के साथ जलना) योग से प्राण त्यागना भला (सुगम) है, क्योंकि उस में एक घड़ी का काम (कष्ट) है । यहाँ तो विना तरवार के संग्राम में आठ पहर का

युद्ध करना है, यहां निन्दा मुख स्तुति है ॥ ४७ ॥ क्योंकि तरवार उसके ऊपर चलाना चाहिए कि जो फिर अपने पर भी तरवार चला सकता हो. और स्वयं डर से दाँतों में तृण पकड़ने वाला कायर पर तो क्या तरवार चलाया जाय, यह धर्म शास्त्र से निषिद्ध है, अर्थात् सदा सावधान भक्त से काल कामादि स्वयं भयभीत हो जाते हैं, फिर दुःख क्या है ॥ ४८ ॥ यह भक्ति योग तन को अति लोहु (खून मय-रक्त-लाल) करता है। विरहाग्नि लगने से मन में भी ऊष्मा (तेज गरमी) आ जाती है ॥ ४९ ॥

तीर तुपक बरछी बहै, विनशि जायगा चाम।
सुरा के मैदान में, क्या कायर का काम ॥ ५० ॥

सूरा के मैदान में, क्या कायर का काम।
सूरा को सूरा मिले, तब पूरा संग्राम ॥ ५१ ॥

सूर[1] चला संग्राम को, कबहुँ न[2] देवै पीठ।
आगे [3]चलि पाछे फिरे, ताको मुख नहिं दीठ ॥ ५२ ॥

साधु सती औ सूर को, ज्यों लंघन त्यों शोभ।
सिंह न मारै मेढका, साधु न बांधे लोभ। ५३ ॥

तीरादि के चलने (रोगादि होने) से चाममय देह नष्ट होगा, आत्मा नहीं, ऐसी दृष्टि वाला सूर के मैदान में कायर का कोई काम नहीं है ॥ ५० ॥ सूर (विवेकी शिष्य) को सूर (ज्ञानी जितेन्द्रिय) गुरु मिलें, तो पूर्ण विचारादि होते हैं ॥ ५१ ॥ जो सूर संग्राम को चला, सो कभी लौटता नहीं, जो आगे चलकर भी संसार विषयादि में फसता अधर्मी होता है उसका मुख नहीं देखना चाहिये, उसे मुख्यात्मा का दर्शन नहीं होता है ॥ ५२ ॥ साधु सती ओर बीर को ज्यों २ लंघन (उपवास भोग का अभाव

१ साधु सती और शूरमा ॥ पा० ॥ २ न फेरे। पा० ३ तीनों निकसि जु बाहूरे। पा० ॥

तुल्य बल शूर की अप्राप्ति) होता है, त्यों-त्यों शोभा तेज बढता है। शूर तुच्छ पर आक्रमण नहीं करता है, क्योंकि सिंह मेढक को नहीं मारता, और लंघन होने पर भी साधु लोभ से कुछ नहीं बांधता है ॥ ५३ ॥

साधु सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गज दन्त।
एते निकसि न बाहुरे, जो युग जाय अनन्त ॥ ५४ ॥
आगि आंच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहन एक रस, महा कठिन व्यवहार ॥ ५५ ॥
नेह निबाहे ही बने, शोचे बनै न आन।
तन दे मन दे शीस दे, नेह न दीजै जान ॥ ५६ ॥
भाव भालका सुरति सर, धर धीरज कर तान।
मन की मूठ जहां मुड़ी, चोट तहां ही जान ॥ ५७ ॥

एते (ये सब) निकसि (अपने मार्ग स्थान में चल) कर नहीं लौटते हैं, चाहे अनन्त युग भी बीत जाय ॥ ५४ ॥ नेह (प्रेम भक्ति) ॥ ५५ ॥ प्रेम भक्ति एस रस निबाहने से ही कार्य सिद्ध होता है, अन्य बात शोचने से नहीं बनता, इसलिये तन मन आदि को जाने देना चाहिये, परन्तु भक्ति को नहीं जाने देना चाहिये ॥ ५६ ॥ उस भक्ति की प्राप्ति के लिये, भाव (प्रेमादि) रूप भालका (धनुष-भाला) और सूरत (ध्यान) रूप तीर को कर (मन) में तान कर धीरज धरो, फिर मन की मूठ (भाव) जहां मुड़ी लगी तहां ही चोट, (स्थिति) जानो ॥ ५७ ॥

सूरा लड़ै कमन्द ह्वै, धड़ सो सीस उतार।
कहैं कबिर मारा मुआ, कहै जु मार हि मार ॥ ५८ ॥
बिना पांव का पंथ है, मांझ सहर अस्थान।
विषम बाट औघट घना, पहुँचे सन्त सुजान ॥ ५९ ॥
पंच असमाना जब लिया, तब रन धसिया सूर।
दिल सौंपा शिर उबरा, मुजरा राम हजूर ॥ ६० ॥

धड़ से शिर को उतार कर कमन्द (कबन्ध) हो कर शूर लड़ता है, और अभिमान त्याग से मारा मुआ होते हुए भी अन्य को अभिमानादि का त्याग के लिये उपदेश देता हुआ मार २ कहता है ।। ५८ ।। जिस मांझ सहर हृदय स्थान के पन्थ विना पांव की प्राप्ति के योग्य है, जहां के विषम माग और बहुत अवघट है, तहां वह सुजान सन्त पहुँचता है ।। ५८ ।। जैसे अस्त्र, शस्त्र, मित्र, वल, कोश, पांच समान (साधन) को ले कर राजा रन में पैठता है, तैसे सन्त भी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, रूप अक्लिष्ट वृत्ति, पंच प्राण और इन्द्रियादि को जब लिया (स्ववश कीया) तब रण मे पैठा, हरि को दिल सौंपा जिससे शिर ऊबरा (कल्याण हुआ) और सब का राम के हजूर में मुजरा हुआ ।। ६० ।।

रन धसिया सो ऊबरा, [1]आया गिरह निवास ।
घरे बधावा बाजिया, और[2] न दूजी आस ।। ६१ ।।

जब लग धर पर सीस है, सूर कहावै सोय ।
माथा टूटे धड़ लडै, कबंध कहावै सोय ।। ६२ ।।

खेल मँडा खेलार सो, आनन्द बढ़ा अघाय ।
अब पासा काहू परौ, प्रेम बँधा युग जाय ।। ६३ ।।

कामादि के रन में धसने वाला नाश से बचा, उसका गृह (हृदय) में निवास स्थान आया (मिला) और उसके घर में बधावा (उत्सव के बाजा रूप अनहद) बाजने लगा, दूसरी आशा न रही ।। ६१ ।। धर पर शिर के अभिमान रहते भी वह रन में धसने वाला सूर कहाता ही है, परन्तु शिर आदि के अभिमान को नष्ट करने पर वह कबन्ध (कं सुख स्वरूप को वश प्राप्त करने वाला) कहाता है ।। ६२ ।। क्योंकि वह खेलार (चतुर) सद्-गुरु सन्त से खेल (विचार) मंडा (ठाना) है, कि जिससे अघाय (पूर्ण

१ आगे पाया । पा० ।। २ औ जीवन की आस ।। पा० ।।

हो) कर आनन्द वढा है अत्र अन्य भी किसी को इस आनन्द खेल का पाला पड़े उसका तो उसी प्रेम में मन के वंघाये रहते में युग (समय) जाता है ॥ ६३ ॥

सूर न सेरी ताकई, नेजा घालै घाव ।
सब दल पाछा मोड़ि के, मांझी सेती चाव ॥ ६४ ॥

सूरा तो सांचै मते, सहै जु सन्मुख धार ।
कायर अनी चुभाय के, पीछें झखै अपार ॥ ६५ ॥

ढोल दमामा गुडगुडी, सहनाई औ तूर ।
तीनो निकसी न बाहुरे, साधु सती औ सूर ॥ ६६ ॥

ये तीनो भागे वुरा, साहबजी[1] की सौंह ।
साधु सती औ सूर का, दैव न मोरै भौंह[2] ॥ ६७ ॥

सूरा सेरी (गली) नहीं देखता है, किन्तु सन्मुख नेजा (बरछी) घालता (चलाता) है । सब दल को पीछे मोर कर मध्य में रहने से चाव (प्रेम) रखता है ॥ ६४ ॥ सूर मध्य हृदय में सत्य मत के विचार में सन्मुख धार (तर्कादि) को सहता है, कायर अनी (भाला मन) को कुछ चुभा (लगा) कर भी पीछे बहुत चिन्ता करता है ॥ ६५ ॥ ढोलादि बाजने पर भी साधु आदि डर कर नहीं लौटते हैं ॥ ६६ ॥ साहबजी की सौंह (सपथा) है कि इनका भागना वुरा है इससे दैंव भी इनके भौंह (दृष्टि-भ्रकुटी कोन) मोरै इनकी लज्जा रखे ॥ ६७ ॥

देखा देखी सब चले, वाना पहिरि अनेक ।
साहब अपने कारने, जूझैगा कोइ एक ॥ ६८ ॥

कायर को कौतुक घना, काहे कसै सनाह ।
भीर परै भगि जायगा, जीवन का है लाह ॥ ६९ ॥

---

१ साहब जी जाकी सूँह । पा० ॥ सूह सन्मुख ॥ २ मुँह । पा० ॥

चौडा महँ आनन्द हैं, नाम धरा रन जीत।
साहब सेती मिल गया, अन्तर गत की प्रीति ॥ ७० ॥

साधु सती औ सूरमा, इन पटतर कोई नाहि।
अगम पन्थ को पग धरै, डिगै त [1]कहां समाहि ॥ ७१ ॥

बाना (वेष) पहिर कर अनेक चले हैं. परन्तु अपने साहब के लिये कोई एक युद्ध करेगा ॥ ६८ ॥ कायर को कौतुक ही देखना घना (बहुत) फल है, घना के भला पाठान्तर है, भीर परने पर भागेगा कि जिससे जीवन का लाभ है ॥ ६९ ॥ चौड़ा (युद्ध के मैदान) में सूर को आनन्द है, जिसका रण जीत नाम धरा गया है, सो अन्तर गत प्रेम के कारण साहब से भी मिल गया ॥ ७० ॥ इनके पटतर (तुल्य-उपमा) कोई नहीं है. ये अगम मार्ग से पैर धरते हैं, परन्तु डिगने (गिरने) पर कहां समाते हैं सो पता नहीं। इस प्रसंग में साखी है कि "सती डिगै तो नीच घर, शूर डिगै तो कूर। साधु डिगै तो शिखर ते, ह्वे चरणों की धूर ॥ ७१ ॥"

साधु सती औ सूरमा, इन की बात अगाध।
आशा छोडै देह की, तिन में अधिका साध ॥ ७२ ॥

सूर सनाह न पहिरई, जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धर लरे, तब जानीजै सूर ॥ ७३ ॥

मोती नीपजै सीप में, सीप समुन्दर माहि।
कोइ इक वंदा काढसी, कायर की गति नाहि ॥ ७४ ॥

साधु आदि की कथा व्यवहार अगाध है कि जिन्होंने देह की आशा छोडि है, तिन में भी साधु श्रेष्ठ हैं ॥ ७२ ॥ सूर (वीर-विवेकी) सनाह (कवच-देहाभिमान) को नहीं धारण करता है, कि जब रन (युद्ध-सत्संग-विचार-ध्यान) में तूर (बाजा-उपदेश-नाद) बाजता है । फलादि के अभि-

---

१ ठाहर नाहि । पा० ॥

मान इच्छा को त्याग कर देह से कर्म व्यवहार करता है, तभी उसे सूर समझो ॥ ७३ ॥ मोती (मोक्ष-ज्ञान-विज्ञान) सीप (मानव देह) में सिद्ध होता है, सो देह संसार समुद्र में है, तहां "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्" उस आत्मा को अपने देह से पृथक् करे, इस कठ श्रुति के कथनानुसार उस मोती को कोई एक वीर भक्त काढता है, कायर की वहां गति नहीं है ॥ ७४ ॥

कायर का घर फूस का, भभकी चहूँ पछीत ।
सुरा को कछु डर नहीं, गज गीरी की भीत ॥ ७५ ॥

शीर काटि धरनी धरै, रुंड लडाई लेय ।
कहैं कबिर तिहि दास को, गुरु बताय जो देय ॥ ७६ ॥

घायल तो घूमत फिरै, राखा रहै न ओट ।
यतन किया[1] जीवै नहीं, लगी मरम की चोट ॥ ७७ ॥

कायर (अज्ञ) का घर फूस (पांचभूत) का है, जो पीछे चारो तरफ से भभक (जल) जाता है, सूरा (ज्ञानी) को कुछ भय नहीं है, क्योंकि उसको गीरी (सूक्ष्म पाषाण-आत्मा) की ही भीत (दिवाल) और गज (गच-छत) है, जो कि अग्नि से जल नहीं सकती ॥ ७५ ॥ वह विवेकी देहादि के अभिमान धर्मादि को त्याग देता है, तो भी शरीर से कर्मोपासना परोपकारादि करता है, ऐसे दास को जो सद्गुरु ज्ञान विज्ञानादि बताये (उपदेश से समझाये) हैं, सो सद्गुरु फिर उसे ज्ञानादि साक्षात् दे देते हैं ॥ ७६ ॥ वह घायल (विवेकी) प्रत्यक्ष ज्ञानादि के लिये सेवा भक्ति सत्संगादि में घूमता फिरता है, अविद्यादि के ओट में किसी के रखने से भी नहीं रह सकता है । यत्न करने पर भी देहाभिमानी रूप से नहीं जीता, क्योंकि मर्म की चोट (शब्द) उसे लगी है ॥ ७७ ॥

---

१ किये नहिं बाहुरे । पा० ॥

घायल की गति और है, औरन की गति और।
प्रेम बान हिरदै लगा, रहा कबीरा ठौर ॥ ७८ ॥

सार बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
[1]यम ऊपर साटै करी, चढिया दास कबीर ॥ ७९ ॥

सूरा नाम धराय के, अब क्यों डरपै वीर।
मांडि रहा मैदान मैं, सनमुख सहना तीर ॥ ८० ॥

जूझैगा तब कहैगें, अब कछु कहा न जाय।
भीड पड़े मन मसखरा, लड़ै किधौं भगि जाय ॥ ८१ ॥

घायल (विवेकी) कबीरा (जिव) प्रेम बनाने के हृदय में लगने से अपने स्थान में ही रहा ॥ ७८ ॥ क्योंकि जैसे युद्ध में सार (लोह) मय अस्त्र शस्त्रों के बहने (चलने) से टकरा कर लोहा झरते हैं, जंजीर (कवचादि) टूटते हैं, तैसे विवेक की धारा वासना नष्ट होती है, यम के जिरह (प्रश्न) तथा तर्कादि रूप जंजीर, सब बन्धन मोह टूटते हैं, इस प्रकार यम के ऊपर भी साटा (शक्ति-प्रतिज्ञा) करके दास जीव अपने ठौर में चढ गया ॥ ७९ ॥ फिर सूर नाम धरा कर वह वीर यमादि से कैसे डर सकता है, वह तो मैदान में युद्ध मांड रहा है, और उसे सन्मुख ज्ञानादि तीर सहना है ॥ ८० ॥ इस प्रकार युद्ध करेगा, तब उसकी स्तुति होगी, अभी नहीं मन मसखरा (मनमुखी) भाजै की ठहराय, यह चतुर्थ चरण के पाठान्तर है ॥ ८१ ॥

तीर तुपक सो जो लड़ै, सो तो सूरा नाहि।
सूरा सोइ सराहिये, बाँटि बांटि धन खाहि ॥ ८२ ॥

सूरा सोइ सराहिये, अंग न पहिरैं लोह।
जूझै सब बन्द खोलि कै, छाड़ै तन का मोह ॥ ८३ ॥

---

१ अविनाशी की फौज में, मांड़ी दास कबीर। पा० ॥

सूरा के मैंदान में, क्या कायर का काम।
कायर भाजै पीठ दै, सूर करै संग्राम ॥ ८४॥

सूरा के मैंदान में, कायर फन्दा आय।
ना भाजै ना लड़ि सकै, मनहि मन पछिताय ॥ ८५ ॥

विबेक से मन को वश में करके न्यायार्जित धन का यथा योग्य विभाग पूर्वक उचित भोग करने ही वाला श्रेष्ठ शूर है ॥ ८२ ॥ देह में जो धनादि विषयक मोह आसक्ति रूप लोह को नहीं पहिरता, और सब बन्द (कपटादि) को त्याग कर विचार धर्मादि करता है, देह का मोह को भी छोडता है, सो सूर स्तुति का पात्र है ॥ ८३ ॥ पीठ दै (विवेक विचारादि से विमुख हो) कर, संसार में भागता है ॥ ८४ ॥ फन्दा (फंसा) तो वह नहीं भागने पर भी लड़ नहीं सकता, किन्तु मन में आने का पश्चात्ताप करता है ॥ ८५ ॥

खोजी को डर बहुत है, पल महँ पड़ै वियोग।
प्रन राखत जो तन गिरै, सो तन साहब योग ॥ ८६ ॥

बाँका गढ बाँका मता, बांकी गढ़ की पोल।
काछ कबीरा नीकसा, यम सिर घाली रोल ॥ ८७ ॥

बांकी तेग कबीर की, अनी पड़ै दो टूक।
मारा मीर महा बली, ऐसी मूठ अचूक ॥ ८८ ॥

कबीर तोरा मान गढ़, [१]लूटी पांचौ खान।
ज्ञान कुल्हारी कर्म बन, काटि किया मैदान ॥ ८९ ॥

खोजी (जिज्ञासु-अभ्यासी) को बहुत डर है, पल मात्र में वियोग (विक्षेप-संशय) प्राप्त होता है (पल पल पड़ै) पाठान्तर है, प्रण (प्रतिज्ञा-टेक) रहते में जो देह छूटता है, सो साहब की प्राप्ति के योग्य है ॥ ८६ ॥

१ पड़े पांचो श्वान । पा० ॥

बाँका (सुन्दर-टेढ़ा) वह देह रूप गढ़ है, और बाँका उसका मता (सिद्धान्त) है, तथा बांकी गढ़ की पोल (मार्ग-गली) सुष्मणा नाड़ी है, बीर का वेष काछ (घर,) कर, कमर बांध कर उस द्वार से जो जीव निकला, सो यम शिर में भी रोल घाला (लाठी मारा) ॥ ८७ ॥ कबीर की तेग (तरवार) बाँकी है, रहस्य विचार विलक्षण है, जिसके अनी (नोक-लेश) मात्र से दो टूक (जड चेतन विविक्त) होता है, उससे मीर (अमीर-स्वामी) मन को मारा है, क्योंकि ऐसी ही अचूक (अमोघ) मूठ (प्रहार-निशाना) है ॥ ८८ ॥ ज्ञानेन्द्रियों की खानि (आकर-खजाना) को लूटा ॥ ८९ ॥

कबीर तोड़ा मान गढ़, मारा पांच गनीम।
ऐसो सीस नमावऊं, साधी बड़ी मुहीम ॥ ९० ॥

सिर राखे सिर जात है, शिर काटे शिर होय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा जोय ॥ ९१ ॥

कबीर पांचो मारिये, जिहि मारे सुख होय।
भला भला सब कोई कहै, बुरा न कहसी कोय ॥ ९२ ॥

जिसने मान (अभिमान) गढ़ को तोड़ा, और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, रूप पांच गनीम (दुष्ट-शत्रु) को मारा, ऐसे को सीस नमाता हूँ, उसने बड़ी मुहीम (मुहकमा-आक्रमण) को साधी है (जीती है), (सीस नँवाया धनी को) यह तृतीय चरण का पाठान्तर है ॥ ९० ॥ अभिमान रखने से शिर जाता है (बार २ मरण होता है), अभिमान के त्याग से उत्तम ज्ञान सुख मोक्ष मिलता है। जैसे दीप की जली हुई बाती को कटने पर प्रकाश देखा जाता है ॥ ९१ ॥ इसलिये अविद्यादि पांचो को मारिये कि जिसके मारने से सुख हो, और सब कोई भला २ ही कहे ॥ ९२ ॥

ऐसी मार कबीर की, मुआ न दीसै कोय।
कहैं कबिर सो ऊबरे, धड़ पर सीस न होय ॥ ९३ ॥

मारा है मरि जायगा, प्रेम सुरंगी बान ।
मेरा मारा फिर उठैं, बहुरि न गहूँ कमान ॥ ९४ ॥

ज्ञान कामठा गुन चिला, तन तरकस मन तीर ।
शब्द भालका सार का, मारै दास कबीर ॥ ९५ ॥

कड़ी कमान कबीर की, धरी रहै मैदान ।
सुरा ह्वै सो खींचहीं, नहिं कायर का काम ॥ ९६ ॥

सद्गुरु की शिष्य के प्रति ऐसी मार है, कि जिससे अभिमान रहितता रूप मृतकता को कोई समझ नहीं पाता है, और वही मुक्त होता है, कि जिसको देहाभिमान नहीं रहता है ॥ ९३ ॥ जिसको प्रेम (भक्ति) युक्त सुरंगी ज्ञान बाण मारा है, वह अवश्य अभिमानादि से मुक्त होगा । यदि मेरा मारा हुआ फिर अभिमानी होता है, तो ऊसके लिये फिर कमान भी नहीं पकडता हूँ ॥ ९४ ॥ मेरे धनुष में ज्ञान (विवेक) कमठ (बांस का भाग) है, शम दमादि गुण चिला (प्रत्यंचा-डोरी) है, स्थूल देह तरकस है, और मनोवृत्ति बाण है, सार तत्त्व का शब्द भाला है, इससे भक्त को गुरु मारते हैं ॥ ९५ ॥ परन्तु यह गुरु की कमान कड़ी है, मैदान में धरी रहने पर भी कोई सूरही खींच सकता है ॥ ९६ ॥

कबीर सोई सूरमा, पांचौं राखी चूर ।
जिन के पांचौं मोकली, तिन सो साहब दूर ॥ ९७ ॥

कबीर सोई सूरमा, जाके पांचौं हाथ ।
जाके पांचों बश नहीं, तो हरि संग न साथ ॥ ९८ ॥

तीर तुपक सो जो लड़ै, सो तो सूर न होय ।
माया तजि [1]भक्ती करै, सूर कहावै सोय ॥ ९९ ॥

[1] हरि को भजे । पा० ॥

सूरा सन्मुख बाहता, कोइ न बांधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥१००॥

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह' इस कठ श्रुति के अनुसार मन सहित ज्ञानेन्द्रिय को चूर (सक्ष्म, वश) रखने वाला सूर योगी है। जिनके पांचों मोकली (खुली, स्वतन्त्र) हैं, उनसे साहब भी दूर हैं ॥ ९७ ॥ हाथ (वश) में ॥९८॥ माया (कपट-मोह-आसक्ति) ॥९९॥ भक्त रूप सूर साहब के सन्मुख ध्यान बान वाहता है, कामादि के सन्मुख ज्ञानादि बान चलाता है, जिससे कोई धैर्य नहीं बांध सकता, क्योंकि पर (शत्रु) के दल को मोरने वाला रन में अटल दास जीव ऐसा ही होता है उसके आगे कोई ठहर नहीं सकता ॥ १०० ॥

नाम कुल्हागी कूबुधि बन, काटि किया मैदान।
कबीर जीते मान गढ, मारै पांचौं खान ॥ १०१ ॥

सूरा थोरा ही भला, सत का रोपै पग्ग।
घना मिला किहि काम का, सावन का सा बग्ग ॥ १०२ ॥

[1]सूरे सार सँबाहिया, पहरा सहज सँयोग।
ज्ञान गयंद हि चढ़ि चला, खेत परन का योग ॥ १०३ ॥

वह भक्त नाम के भजनादि रूप कुल्हाड़ी से कुबुद्धि रूप बन को काट कर मैदान किया है, इससे मान गढ़ को जीता है। अविद्यादि पांचों जन्म दुःखादि के खानों (आकरों) को मारा (नष्ट किया) है, और करता है ॥१०१॥ ऐसा सूर थोड़ा ही भला है, जो कि सत का पैर को रोपता (स्थिर करता) है, और घना (बहुत) मिला भी किस काम का है कि जो श्रावन के बक के समान विषय हवा के वेग में उड़ता है, या श्रावन के बाग तुल्य थोड़े देर हरा भरा है ॥१०२॥ शूर जैसे लोहे का मार को भी पाता और

१ सूरा सार सँभालिबा । पा० ॥

सहता है, तैसे भक्त सार शब्द विवेकादि को सम्यक् प्राप्त किया, और सहज वृत्ति धारणा-स्वभाव-समाधि-संतोष रूप संयोग (पूर्ण योग) चोला पहिरा, कवच का धारण किया, फिर ज्ञान रूप हाथी पर चढ़ कर चला कि जहां विषु क्षेत्र में पड़ने (पहुँचने) का योग मिलता है ॥१०३॥

अब तो जूझै ही बनै, मुड़ि चालै घर दूर।
सिर साहब को सौंपते, शोच न कीजै सूर॥ १०४॥

भागै भला न होयगा, कछु सूरातन सार।
भरम बखतर दूर करी, सुमरन सेल सभार॥ १०५॥

भागै भला न होयगा, मुड़ि चालै धसि दूर।
खड्ग उपारै ना डरै, सो सांचा है सूर॥ १०६॥

सूर भक्त के तन में कुछ भी सार (बल) हो तो भ्रम (अविद्या) के बखतर को दूर करके स्मरण रूप सेल (भाला) को संभारना चाहिये ॥१०४, १०५॥ फिर चलने से दूर अविद्या में धसि पड़ोगे, इसलिये ज्ञान खड्ग को उपारै (उठावै) और डरै नहीं सोई सांचा सूर है ॥ १०६ ॥

सेल जु जाही मारिये, नहिं काहू की ओट।
ओलाजा लोपौ नहीं, खाली परै न चोट॥ १०७॥

निशंक ह्वै रन में रहै, ज्यों दरिया में दोट।
साहब तब ही पाइये, सहिये शिर पर चोट। १ ८॥

चित चेतन ताजो करै, लौ की करै लगाम।
शब्द गुरू का ताजना, पहुँचै सन्त सुठाम॥ १०९॥

लड़ने को सब ही चलै, सस्तर बांधि अनेक।
साहब आगे आपने, जूझेगा कोइ एक॥ ११०॥

जिस भक्त पर ज्ञान शब्द सेल (शस्त्र) का प्रहार किया जाता है, सो अविद्यादि किसी अनात्मा के ओट (परदा-शरण) में नहीं रहता, न उसको

ओलाजा (उल्लज्जता-उत्साह-गर्व-हर्ष) होता है, न लोप (संकोच खेद दुःख) होता है, क्योंकि उस में उपदेश का चोट व्यर्थ नहीं जाता है ॥ १०७ ॥ दोट (दोषा-सिकन्दरी भुजा-जहाजादि) चोट (गुरु की ताड़ना) ॥ १०८ ॥ चेतन (जीव) चित्त को ताजी घोड़ी करे, लौ (ध्यान) को लगाम करे, गुरु शब्द को ताजना (चाबुक) करे तब सन्त सुठाम में पहुँचता है ॥ १०९॥ अनेक (सकाम कर्मादि) कोई एक (निष्काम) ॥ ११० ॥

कठिन कमान कबीर की, पड़ी रहै मैदान।
केते योधा पचि गये, खींचै सन्त सुजान ॥ १११ ॥
कड़ी कमान कबीर की, न्यारे न्यारे तीर।
चुनि चुनि मारै बखतरी, मूरख गिनै न तीर ॥ ११२ ॥
कड़ि कमान कबीर की, काचा टिकै न कोय।
सिर सौंपै सीधा लड़ै, सूरा कहिये सोय ॥ ११३ ॥
[1]रक्त बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
अविनाशी की फौज में, गूँजै दास कबीर ॥ ११४ ॥

कठिन कमान (निष्काम सत्कर्म भक्ति ज्ञानादि) सुजान (विवेकी) ॥ १११ ॥ न्यारे २ तीर (ध्यान-विचार-भक्ति आदि) बखतरी (देहाभिमानी) को गुरु के उपदेश चुन २ कर मारता है, अभिमान छुड़ाता है, परन्तु मूर्ख उस तीर को गिनता (समझता) ही नहीं है ॥ ११२ ॥ काचा (डरपोक) सीधा (निष्कपट) विचारादि करै ॥ ११३ ॥ ऐसा करने से रक्त (राग) नष्ट होता है, लोहा (मोह वासना) मिटता है, जिरह (संशय-विवाद) बखतर छूटता है, फिर अविनाशी हरि के दल में वह दास जीव गूंजता (मधुर रव करता) है ॥ ११४ ॥

ध्वजा फरक्कै सुन्न में, बाजै अनहद तूर।
तकिया है मैदान में, पहुँचेगा कोई सूर ॥ ११५ ॥

---

१ सार । पा० ॥

रन रोही अति ही हुआ, साजन मिला हज़ूर।
सूरा सूरा ठहरा, भाजि गई भक भूर॥ ११६॥

सब ही साथी कल तरो, धीर न बंधै कोय।
भागा पीछे बाहुरे, ठाढ़ गुसाईं सोय॥ ११७॥

फिर उस भक्त से शून्य मंडल में ध्वजा फहराता है, अनहद रूप तूरही बाजता है, और उसका तकिया (तक्थ-आसन) मैदान में है, जहां कोई सूर ही पहुँचेगा॥ ११५॥ जो रण में अतिरोही (आरूढ) हुआ, उसे सज्जन गुरु आदि भी प्रकट मिले, जो सूर सब रण में ठहर गये उनकी भकभूर (भारी बहुत भ्रान्ति) भाग गई। तथा रण में सूर ठहरे परन्तु भूर (बहुत) भकुआ जनता भाग गई॥११६॥ सब ही के साथी कल्पतरु है, परन्तु कोई धैर्य नही धरता है, भागता है, यदि भागा हुआ भी पीछे लौटे तो वह कल्पतरु गोस्वामी खड़े ही मिल जाय॥ ११७॥

भागि कहाँ को जाइये, भय भारी घर दूर।
बहुरि कबीरा खेत रहु, दल आया भर पूर॥ ११८॥

सति जो डरपै अगिन ते, सूरा सर हि डराय।
हरि जन भागै भक्ति सो, देश दुनी ते जाय॥ ११९॥

राम झरोखे बैठ के, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसा मुनसब देय॥ १२०॥

गुरु शरण विचारादि युद्ध भूमि से भागने पर भारी भय उपस्थित होता है, और मोक्ष भवन दूर पड़ता है। इसलिये हे जीव! लौट कर युद्ध क्षेत्र में रहो, कामादि के अधिक दल आया है, भगोगे कहाँ॥ ११८॥ सर (बाण) दुनी (संसार) से जाय (नष्ट होय)॥ ११९॥ झरोखे (इन्द्रियों के गोलकों) में, मोजरा (हिसाब-हाजिरी)॥ १२०॥

जो सिर सौंपा सांई को, वह सिर भया सनाथ।
कबीर दे उबरन भये, जाका ताके हाथ॥ १२१॥

स्वामी को जो सिर सौंपा गया वह सनाथ (सार्थक) भया, क्योंकि सिर देने वाले सिर देकर उबरन (उत्तम उज्जवल बरन) हुए, शुद्ध स्वरूप हो गये, और जिसका रहे उसी के हाथ में आ गये। १२१।

जाका ताको दीजिये, कभी उबरना होय।
पहिले देवै सो खरा, पीछे तो सब कोय ॥ १२२ ॥

सूरा सोई जानिये, पांव न पीछे पेख।
आगे चलि पीछा फिरे, ताका मुख नहिं देख ॥ १२३ ॥

देखा देखी सूर चढ़ै, मर्म न जानै कोय।
सांईं कारण सीस दे, सूरा जानौ सोय ॥ १२४ ॥

सिर साटे का खेल है, सो सूरन का काम।
पहिले मरना आग में, पीछे कहना राम ॥ १२५ ॥

हरि का गुन अति कठिन है, ऊंचा बहुत अकथ्थ।
शिर काटा पग तर धरै, तब जा पहुंचे हथ्थ ॥ १२६ ॥

शिर भी जिस साहब का है, उसे देना चाहिये, तो कभी उबरना (मोक्ष होगा, सो भी मरने से प्रथम दे, वह खरा (सच्चा), पीछे तो सब कोई देता है ॥ १२२ ॥ अपना पाँव को पीछे पड़ता हुआ न देखे, और पीछे पाँव देनेवाले का मुख नहीं देखे ॥ १२३ ॥ मर्म (भेद) ॥ १२४ ॥ सिर अर्पन का खेल है, जहाँ प्रथम तप दमादि अग्नि में मरना है, फिर प्रेम भक्ति ज्ञानादि को प्राप्त करना है ॥ १२५ ॥ हरि का गुण (समदृष्टिता, ज्ञान, संतोष, शान्ति, तृप्ति आदि) शिर आदि के अभिमान को त्यागे, नम्र हो तो वहाँ तक मन बुद्धि पहुँचती है ॥ १२६ ॥

घटी बढ़ी जानै नहीं, मन में राखै जीत।
गाडर लड़ै गयन्द सो, देखो उलटी रीत ॥ १२७ ॥

कूकर बहु बहु जुरि मुआ, सलसै चढ़ी सियार।
रोवत आवै गदहरा, बोधत आय बिलार ॥ १२८ ॥

जिसको गम पहुँच नहीं है, सो इस युद्ध से मुख मोड़ने में जो घटी (हानि) संसार दुःखादि है उसको नहीं जानता है, न युद्ध से होने वाली बढ़ी (वृद्धि) मोक्षादि को जानता है, किन्तु मन में जीत के अभिमान इच्छा रखता है, स्वर्ग मोक्षादि चाहता है, तो ऐसे जग (संसारी) की उलटी रीति देखो कि यह अविवेकी गाडर तुल्य जीव कामादि रूप गयन्द (हाथी) से लड़ता (गुरु गम विना ही जीतना चाहता) है ॥ १२७ ॥ वह लड़ने वाला बहुत कूकर के समान बहुत प्रकार से जुड़ि (जुट-मिल) कर झगड़ कर मुआ, और वह कामादि रूप सियार सालसा वृक्ष तुल्य संशय अज्ञान पर चढ़ गया (अज्ञानादि के आश्रित जीवित रहा) इनसे मारा नहीं गया इससे गदहा तुल्य अज्ञ बार २ रोता हुआ संसार में आता है। बिलार तुल्य मोह रागादि इसके साथ ही अपने अनुकूल बोधते (समझाते) आता है, मोहादि से मुक्त नहीं होने पाता है (जुरि मुआ के जरिं मुआ) पाठान्तर है ॥ १२८ ॥

मा मारी धी घर करै, गौ सो बच्छा खाय ।
ब्राह्मण मारै मद पिये, तो अमरापुर जाय ॥ १२९ ॥

माता मुये एक फल, पिता मुये फल चार ।
भाई मूये हानि है, कहै कबीर विचार ॥ १३० ॥

जो गुरुमुखी गुरुगम पाकर उसी अस्त्र से मा (माया-ममता) को मार कर धी (बुद्धि) को घर (हृदय) में स्थिर करे, फिर सो (वही) बुद्धि रूप गौ के बच्छा (मन के विकल्प) को खा जाय । मन रूप ब्रह्मा के सन्तान रूप कामादि को भी मार डारै, फिर मद (हर्ष ब्रह्मानन्दामृत) को पीवे, तो अमरापुर (निर्विकल्प समाधि-जीवन्मुक्ति) में जाय (प्राप्त होवे) ॥ १२९ ॥ गुरु गम से माता (ममता माया) के मरने से एक अद्वैतात्मा के अनुभव विवेकादि रूप कोई एक फल होता है, और पिता (सर्व जनक मोह) के मरने से अर्थादि चारों फल होते हैं, मोह के नहीं रहने पर अर्थ,

धर्म, काम के रहते भी मोक्ष में क्षति नहीं होती है। परन्तु विवेकयुक्त मन सद्भाव रूप भाई के मरने से हानि है, जीवन्मुक्ति का आनन्द सदाचारादि विना नहीं हो सकता. सो सद्गुरु विचार कर कहते हैं, विचार की बात हैं ॥ १३० ॥

अचर चरै चर परिहरै, मरे न चारै जाय।
बारह मास विलोघना, घूमै एकै भाय ॥ १३१ ॥

सदाचारी गुरुगमवाला अचर (अचल) सत्यात्मा में विवेकी मन रूप भाई के साथ चरता (विचरता) है। चर (चंचल-अनित्य) मिथ्या मायामय पदार्थों को त्यागता है, इससे कभी मरता नहीं है, न किसी के चारै (अधीन-प्रेरणा के वश) हो कर कहीं नरक स्वर्गादि में जाता है। इससे बारह मास (सदा) विलोघना (विलोड़ना-विचारणा) करते हुए एक भाव से घूमता (विचरता) है, भेदभाव रागद्वेषादि में कभी नहीं पड़ता है, इससे जीवन्मुक्त सुखी रहता है ॥ दूसरा अर्थ है कि भाई के मरने से हानि है इसीसे भाई को रक्षित रख कर विवेकी मनुष्य अचर अन्न को सदा चरता (भोजन कर्ता) है। चर (जंगम) प्राणी के मांस को सर्वथा त्यागता है, क्योंकि स्वयं मरे प्राणी के मांस को भी वह चारै (खाने) जाता है, तथा इसे मरने पर भी इसको कोइ चारने (खाने) नहीं जाता है, और मांसाहारियों को तो "मां स भक्षयिताऽमत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्" इस मनुभगवान् के वचनानुसार, जिस प्राणी के मांस वे आज खाते हैं, सो प्राणी फिर उन्हें खायेंगे, यही मांस में मांसत्व है, अन्यथा उसका मांस नाम ही ठीक नहीं है. अन्य अन्न के विषय में किसी धर्मशास्त्र वा महात्मा का ऐसा वचन नहीं है। इससे अन्नाहारी विवेकी निरामिष को मरने पर भी कोइ मारने वाला नहीं है, इसीसे उसको सदा ब्रह्मानन्द का ही आलोड़न करना है, वह सदा एक सत्य स्वसत्ता में घूमता है ॥ तीसरा अर्थ है कि प्रेमभावादि भाई की रक्षा के लिये, अचर (जड) देह को चरै (अभि-

मान त्यागे) और चर (मन भावादि) को जीवन्मुक्ति काल में परिहरै, ब्रह्मानन्द में दौड़ने दे । परन्तु प्रारब्धान्त में जब वह स्वयं मरेगा, तो आप ही वह न जन्म लेगा न चारा चरेगा । समाधि काल तक कथञ्चित जीवित भी रहेगा, तो सदा बिलोघता (योग निद्रा में झुकता) हुआ, एकाकार वृत्ति में घूमेगा, अन्यथा स्वरूपस्थ होगा "शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तै-काग्रता परिणामः) । योगसू० ३ । १२ ।।" अथवा अर्थ है कि, गुरु गम पाकर अचर (जड़ देहादि) को चरै (ज्ञानादि से बाध नष्ट करे, और चर चेतन-जीवात्मा को परिहरै (बाध नाशरहित समझै) "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते जीवो म्रियते ६ । ११ । ३ ।। अविनाशी वा अरेऽयमात्मा-ऽनुच्छित्तिधर्मा । बृ ४ । ५ । १४" इत्यादि शास्त्र के अनुसार देह ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता है, क्योंकि वह अविनाशी उच्छेद रहित है, कठोप-निषद् के वचन है कि "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमा-त्मान मत्वा धीरो न शोचति । १ । २ । २२" शरीर में भी शरीर रहित (शरीर के धर्मों से असम्बद्ध) अतएव अनस्थिर में भी स्थिर महान् विभु आत्मा को जान कर ज्ञानी मोह रहित होता है । इससे चेतन जीवात्मा के नाश मरणादि बुद्धि को त्यागे, भाग त्यागादि से अजर अमर अखंड ब्रह्म स्वरूप समझे, ऐसा करने से फिर वह कभी मरता नहीं है, न मर कर चारौ (चराचर) योनि में जाता है, या देवादि के चारे (भक्षण-सेवा) में नहीं जाता है, पराधीन नहीं होता है, किन्तु बारह मास के जो बारह सूर्य हैं, उनके बिल (छिद्र) का भी वह ज्ञानी उलघन करता है, अर्थात् पञ्चाग्नि आदि के उपासक उत्तरायण मार्ग के गामी जीव सूर्य का भेदन करके ब्रह्म-लोक में जाते हैं, सो "द्वाविमौ पुरुषो लोके सूर्यमंडलभेदिनौ । परीब्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः" इत्यादि शास्त्र में प्रसिद्ध है कि योगयुक्त संन्यासी त्यागी महात्मा और रन में सन्मुख मारा गया बीर दो पुरुष सर्य मण्डल का भेदन करते हैं, परन्तु यह ज्ञान बीर तो जीतेजी उस

सूर्य के बिल का उलंघन (ज्ञान से बाध) करता है, और "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" इत्यादि शास्त्र से बोधित नित्य स्वयं प्रकाश आत्म तत्त्व को ही समझता है, अथवा गुरु गम होने पर भी यदि ब्रह्मलोकादि की प्रबल वासना वश अपरोक्षानुभव नहीं होता है, तो भी वह गुरुमुखी वीर बारह मास के बिल का उलंघन करके ब्रह्म लोक में जाता है, अन्य जीवों के समान वह कभी दुर्गति नहीं पाता है, सो "नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति भ० गी० ६, ४० " इत्यादि शास्त्र में प्रसिद्ध है, और ब्रह्मरूपता को प्राप्त होने पर तो "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । कठ० १ । २ । २१" इत्यादि बचन के अनुसार आत्म स्वरूप से स्थिर होते भी ज्ञान दृष्टि से दूर जाता है, सोया हुआ भी सर्वत्र जाता है, इससे एकात्मभाव से सर्वत्र घूमता है, वस्तुतः अक्रिय अचल रहता है ॥ १३१ ॥ शूर के विषय में दादू दयालजी का वचन है कि—

माहैं मन सो जूझि करि, ऐसा शूरा वीर।
इन्द्रिय अरि दल भानि सब, यों कलि हुवा कबीर ॥ १ ।

सांई कारण शीस दे, तन मन सकल शरीर।
दादू प्राणी पञ्च दे, यों हरि मिला कबीर ॥ २ ॥

ऐसा (अपूर्व) शूरा (शूर समूह) तुल्य एक कबीर कलि में ऐसा हुआ जो अन्दर के मन से युद्ध करके सब इन्द्रिय और कामादि सब अरि दल को भानी (नष्ट किया) ॥ १ ॥ सर्वात्मा सांई के लिये शीस दे कर, स्थूल तन का अभिमान को तथा सब शरीर और पांच प्राण के समूह को देकर (इन्हे ब्रह्मार्पण करके) इस प्रकार कबीर हरि से तन्मयता (ब्रह्मरूपता) से मिला, यही सब बिलों का उलंघन करने वालों की रीति है। पञ्च कोश रूप देह भी अभिमानादि रूप सर्प के बिल हैं ॥ तहाँ "मन मनसा मारै नहीं, काया मारन जाहिं । दादू बांबी मारिये, सर्प मरै क्यों माहिं" जो

१०

कोई मन मनोरथ अभिमानादि को नहीं मार कर काया (स्थूल देह) को तप आदि से मारने जाते हैं, तो देह रूप बाँबी (बील) के मारने से माँह (अन्दर) के सर्प (अभिमान कामादि) कैसे मर सकते हैं, इससे सर्प को मारने के लिये उक्त वीर कबीर के समान अन्दर के मन आदि से युद्ध करना चाहिये ॥ २ ॥

शूरत्वं विजितेन्द्रियत्वममलं ब्रह्मज्ञता तत्परम्,
सत्सङ्गादिविचारध्यानसुलभं पापौघविद्रावणम् ।
जीवन्मुक्तिफलं यशोद्युतिकरं देवादिभिर्वन्दितम्,
ध्येयं ध्येयविदां हि सुजनाः संपादयन्तु द्रुतम् ॥ १ ॥

एकं ब्रह्म निरञ्जनं स्मृतिमुखे संधारयन्तः सदा,
बाह्यं वस्तु विहाय योगकलया ह्यन्तर्मनोऽधीयताम् ।
यावन्नो मनसो भवेद्गतिरियं तावद्गुरूणां वचः,
श्रद्धाभक्तिसमादरादिसहितं सूत्कण्ठया गीयताम् ॥ २ ॥

मोहाम्भोधिसुतारकं गुरुवरं रामं सदा निर्गुणम्,
शुद्धं ज्ञानघनं तमोऽन्धहरणं भक्ताऽभये कारणम् ।
गोतीतं गणनायकादि सहितैरीशादिभिः सेवितम्,
नित्याप्तं हि भजन्तु शान्तहृदया गच्छन्तु तं निर्मलम् ॥३॥

शूरत्वं बलमस्ति सर्वसुखदं सर्वाधिकारप्रदम्,
प्रेमानन्दमहोत्सवस्य करणं सर्वाधिसंहारकम् ।
धर्माधर्मविवेक धैर्यधनदं ह्यैकान्तिकं तत्फलम्,
कैवल्यं जगदन्तकोटिविगमे तत्सर्वदा सुस्थिरम् ॥ ४ ॥

युद्धक्षेत्रेऽत्र ससारे सुयुद्धं न करोति यः ।
रुदित्वा स जनिं लब्ध्वा म्रियते च पुनः पुनः ॥ ५ ॥

ततः सम्पाद्य शूरत्वं कृपणत्वं परित्यजेत् ।
मोहार्णवं समुत्तीर्याऽहंकारं रावणं खनेत् ॥ ६ ॥

शान्ति सीतां समाश्रित्य हृदये नगरे स्थितः ।
रामरूपोऽमरो ज्ञानी मोदते मोदयन् जगत् ॥ ७ ॥

इति शूरता का अंग ॥

अथ व्यापक का अंग ॥ ६७ ॥

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख ।
सब घट व्यापक साँइयां,[1] अगम अपार अलेख ॥ १ ॥

सब घट मेरा साइयां, सुनी सेज न कोय ।
बलिहारी वा घटहि की, जा घट परगट होय ॥ २ ॥

जाति जाति का पाहुना, जाति जाति पहँ जाय ।
साहब [2]जाति अजाति है, सब घट रहा समाय ॥ ३ ॥

जितने घट (देह) हैं, उतने भिन्न २ मत (मति-विचार) है बानी और भेख भी बहुत है, सर्वात्मा साक्षी स्वरूप स्वामी सब घट में व्यापक और इन्द्रियों से अगम्य अपार और अलेख (अदृश्य) है ॥ १ ॥ यद्यपि मेरा स्वामी सब घट में है, कोई हृदय रूप शय्या उससे शून्य नहीं है, परन्तु उस घट की बलिहारी है कि जिस घट में वह प्रगट (प्रत्यक्ष) होता है ॥ २ ॥ लोक में तत्तत् जाति के पाहुन तत्तत् जाति के यहाँ जाते हैं, और साहब तो अजाति (जन्म रहित) जाति (सब के लिये तुल्य है, इससे सब घट में समा रहा है, प्रकट होने में भी जाति का नियम नहीं रखता है ॥ ३ ॥

बालक रूपी सांइया, खेलै सब घट माहिं ।
जो चाहै सो करत है, भय काहू का नाहिं ॥ ४ ॥

---

१ ह्वै रहा, रहा सोइ आप अलेख । २ सब को जाति है, जाति सुजाति है ॥ पा०

भूला भूला क्या फिरै, शिर पर चढि[1] गइ बेल ।
तेरा सांई तुझहि में, ज्यों तिल माहीं तेल ॥ ५ ॥

ज्यों तिल माहीं तेल है, चकमक माहीं आग ।
तेरा सांई तुझ हि में, जाग सकै तो जाग ॥ ६ ॥

बालक रूपी (राग द्वेषादि रहित) स्वामी सब घट में खेलता है, और रागादि बिना जो चाहता है सो करता है, उसको किसी का भय नहीं है ॥ ४ ॥ अन्यत्र भूला २ भटकता हुआ क्या फिरता है, माया वेलि शिर पर चढ़ गई है, उसे समझो, तेरा स्वामी तुम में ही है, जैसे कि तिल में तेल रहता है, यहाँ खोजो ॥ ५ ॥ तिल में तेल और चकमक में आग के समान तेरा स्वामी तुम में है, मोह निन्द से नहीं समझ पडता है, इसलिये जाग सको तो जागो (विवेक करो) ॥ ६ ॥

जैसी लकड़ी ढाक की, ऐसा तन यह देख ।
वा में केसू छिपि रहा, या में पुरुष अलेख ॥ ७ ॥

दरदवन्त कोइ जान ही, सब घट व्यापक पीर ।
सब घट व्यापक ह्वे रहा, रमता राम कबीर ॥ ८ ॥
राम कबीरा एक है, चीन्है बिरला कोय ।
अन्तर टाटी भरम की, ताते देखै दोय ॥ ९ ॥

ढाक (पलास) लकडी के समान इस देह को देखो कि जैसे उस लकड़ी (वृक्ष) में केसू (लालपुष्प) छिप रहा है, फूलने से प्रथम दीखता नही है, तैसे इसमें अलेख (अदृश्य) पुरुष (आत्माराम हरि) है ॥ ७ ॥ कोई दरदवन्त (दयालु शुद्ध चित्तवाला) पुरुष जैसे सब घट में व्यापक पीर (पीड़ा-दुख) को तुल्य समझता है, इससे किसी को पीडित नहीं करता है, तैसे ही सब घट में रमता (स्वतन्त्र) राम भी व्यापक ह्वे रहा है,

१ बढ़ि गइ ।

ऐसा भी दरदवन्त जानता है।।८॥ पारमार्थिक रूप में राम और कबीरा (जीव) एक ही है, उसको बिरला कोई विमल पुरुष चीन्हता है, अन्तर में भ्रम की टाटी से ही दो भासता है॥ ९॥

राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दोय करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय॥ १०॥

राम और जीव एक है, परन्तु कहने सुनने (व्यवहार) के लिये दो है। वस्तुतः दो करके वह जानता है कि जिसको सद्गुरु नहीं मिला है॥ १०॥

काया कफ चित चकमके, झारो बारं बार।
तीन बार धूँआ भया, चौथे पड़ा अंगार॥ ११॥

जा कारण जग ढूंढिया, सो तो घट ही माहिं।
परदा दीया भरम का, ताते सूझै नाहिं॥ १२॥

देह रूप कफनी (वस्त्र-तूल) पर चित्त चकमक को बार-बार झाड़ो (ठोको) तो तीन अवस्था गुण तक धूम (ज्ञान का पूर्वरूप हो) कर चौथे में अनुभव होगा॥ ११॥ जा कारण (जिसे पाने के लिये) जिसको जगत में खोजा, भरम (भ्रम-मोह-आसक्ति)॥ १२॥

इति व्यापक का अंग॥

अथ सती का अंग॥ ६८॥

सती पुकारै सर चढ़ी, सुन रे मीत मसान।
लोग बटाऊ सब गये, हम तुम रहे निदान॥ १॥

सती बिचारी सत किया, कांटों सेज बिछाय।
लै सूती पिय [1]संग में, चहुदिशि आग लगाय॥ २॥

---

[1] पिय आपना। पा०॥

सती सुरातन साधिया, तन मन कीया दान।
दीया महुला पीव को, मरघट करै बखान ॥ ३ ॥

सरा (चिता) पर चढ़ कर भी सती पुकारती है, कि रे मित्र मसान सुन, बटाऊ (पथिक) लोग सब गये, परन्तु निदान (अन्त) में भी हम तुम रहे । अर्थात् "स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति । भ० गी० २ । ७२" इत्यादि वचनों के अनुसार सत्यात्मनिष्ठ ज्ञानी भक्त की बुद्धि अन्तकाल में भी मोह रहित और सत्य ज्ञाननिष्ठ ही रहती है । संसारी की बुद्धि विचलित होती है ॥ १ ॥ क्योंकि बेचारी सती प्रथम से भी सत्य का अभ्यास किया है । अन्त में भी तीव्र विरागादि रूप कांटों की शय्या बिछा कर ज्ञानाग्नि को सर्वत्र लगा कर, प्रियतमात्मा को संग में लेकर मानो सूती है ॥ २ ॥ ऐसी सती मानो सुरातन (शूरता) को सिद्ध किया है, तन मन का दान दिया है । प्रिय आत्मा को भी महुला (मोहब्बत-प्रेम का आनन्द) दिया, अर्थात् सद्गुरु आदि को सन्तुष्ट किया है, कि जिससे वे भी मरघट (श्मशान) में भी बखान करते (सुयश कहते) हैं । "सती सूर तन ताइया, तन मन कीया घान । नाम जपत चिन्ता मिटी, निकसा तन से प्रान ॥ " यह पाठान्तर है । सती और सूर तन को तपाया, और तन मन का नाश किया इत्यादि अर्थ है ॥ ३ ॥

सती जरन को निकसी, चित धरि एक विवेक ।
तन मन सौंपा पीव को, अन्तर रही न रेख ॥ ४ ॥

सत्य निष्ठ बुद्धि चित्त में एकात्मा का विवेक को धर के ज्ञानाग्नि से जलने के लिये निकली (देहाभिमान मोह को त्यागी) फिर तन मन आदि का ईश्वरार्पण किया, तब ईश्वर से रेख मात्र भी अन्तर (भेद) नहीं रही, तल्लीन हो गई ॥ ४ ॥

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न जराय ।
मूये पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराय ॥ ५ ॥

सती जरन को नीकसी, पिव का सुमिरि सनेह ।
शब्द सुनत जिय नीकसा, भूलि गई [1]सब देह ।। ६ ।।

प्रायः पति के मरने पर स्त्रियाँ सती होती हैं । मरने पर चार मुक्ति मानी जाती हैं, तहाँ सुबुद्धि अपनी सखी से पूछती है, कि जीवते में ही ज्ञानाग्नि से देह को क्यों न जला दिया जाय, जो मरने के पीछे सत करते (सत्य मोक्ष ठहराते) हैं, सो जीते जी सत क्यों नहीं करते हैं ।। ५ ।। उत्तर है कि जीती हुई सती ज्ञानाग्नि से जलने के लिये, स्वामी का प्रेम को याद स्मरण करके निकली, सद्गुरु आदि के शब्द को सुन कर, सब (तीनों) देह को भूल गई, और देह से प्राण निकल गया (देहाभिमान छूट गया), इससे मानो मरने पर सत किया, परन्तु वस्तुतः जीते ही जो सत किया जाता है, जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेहमुक्ति वेदादि से सिद्ध है ।। ६ ।।

कबीर सतियां कुसतिया, जरै मरे की लार ।
सतियाँ सोई जानिये, जरै सँभारि सँभारि ।। ७ ।।

वे सतियाँ कुसतियाँ हैं, जो कि मरे के लार (पास) जलती हैं, मृतक को भजती है, मरने पर मुक्ति मानती हैं । सोई परमार्थ सतियाँ जानिये, जो परमार्थ तत्त्व को सँभार २ (समझ २) कर ज्ञानाग्नि से जलती है, मन इन्द्रिय को सँभार (रोक) कर जीवन्मृतक होकर जलती हैं ।। ७ ।।

इति सती का अंग ।।

अथ जीवतमृतक का अंग ।। ६९ ।।

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै खलक की आस ।
आगे पीछे हरि फिरे, मति दुख पावै दास ।। १ ।।

---

१ निज । पा० ।।

खरी कसौटी राम को, [१]झूठा टिकै न कोय ।
राम कसौटी सो टिकै, जीवत मिरतक होय ॥ २ ॥

कसत कसौटी जो रहै, सो कहिये कुल हंस ।
तिन सो शब्द सुनाइये, सोइ हमारो अंश ॥ ३ ॥

कांच कथीर अधीर नर, जनन किये ह्वै भंग ।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाई रंग ॥ ४ ॥

अभिमान रहित हो कर रहो, और खलक (संसार) की आशा को त्यागो, क्योंकि भक्तों के आगे पीछे हरि फिरते हैं, कि भक्त दुःखी न हो ॥ १ ॥ परन्तु राम की कसौटी (परीक्षा) भी खरी (सच्ची) है, उसमें कोई झूठा भक्त टिकने नहीं पाता है, राम की कसौटी में सोई टिकता है, जो निरभिमानी होता है ॥ २ ॥ राम गुरु की कसौटी कसते में जो टिका रहता है, उसको कुलीन विवेकी कहते हैं, उनको सार शब्द सुनाना चाहिये, सोई हमारे अंश (भाग) हैं ॥ ३ ॥ कच्चे दिल के कुस्थिति वाले धैर्य रहित नर को जनों (भक्तों) में परीक्षा करने से तपाने से भग नाश) होता है, उनकी परीक्षा से वे नष्ट होते हैं, साधु और कंचन को तपाने कसने से सवाई रंग चढता है ॥ ४ ॥

कञ्चन केवल हरि भजन, दूजा कांच कथीर ।
छूटे आल जंजाल सब, पकड़ै सांच कबीर ॥ ५ ॥

कांच कथीर अधीर नर, सकैं न उपजै प्रेम ।
कबीर कसनी सहत है, कै हीरा कै हेम ॥ ६ ॥

मरता मरता जग मुआ, औसर मुआ न कोय ।
दास कबीरा यों मुआ, बहुरि न मरना होय ॥ ७ ॥

---

१ खोटा । पा० ॥

जीवन ते मरना भला, जौं मरि जानें कोय ।
मरना पहिले जो मरै, तो कलि अजरा होय ।। ८ ।।

कञ्चन (उज्ज्वल) केवल हरि भजन है. दूसरी बात कांच कुवस्तु है, सांच को पकड़े तो सब आल जंजाल (बन्धन बखेरा) छूट जाय ।। ५ ।। परन्तु कांचा आदि मनुष्य सांच को पकड नहीं सकता, न उसमें प्रेम उपजता है, क्योंकि कसनी भी हीरा या हेम (कंचन) ही सहता है कांचादि नहीं सहता है ।। ६ ।। मरते २ सब मुआ परन्तु सांच के अवसर पर नहीं मुआ, दास ही जीव ऐसा मुआ कि जिससे फिर मरना नहीं होय ।। ७ ।। जीवन से मरना भला है, यदि बहुरि मरन रहित मरन को कोई जाने, या मर कर सत्य को जानै, मरन से प्रथम ही यदि मरे तो कलि में भी वह निरभिमानी अजरा हो जाय ।। ८ ।।

मन [१]मनसा ममता मुई, अहं गई सब छूट ।
गगन मंडल में घर किया, काल रहा सिर कूट ।। ९ ।।

आप मिटाये हरि मिले, हरि मिटाय सब जाय ।
अकथ कहानी प्रेम की, कहे न कोइ पतियाय ।। १० ।।

जिहि मरने ते जग डरै, मेरे मन आनन्द ।
कब मरि हौं कब भेंटि हौं, पूरन परमानन्द ।। ११ ।।

मरना भला विदेश का, जहँ अपना नहिं कोय ।
जीव जन्तु भोजन करैं, सहज महोछा होय ।। १२ ।।

जिसके मन मनोरथ ममता गर्व सब नष्ट हो गये । वह गगन मंडल में घर बनाया तो उसको काल नहीं कुछ कर सकता ।। ९ ।। आप (ममता) के मिटाने से हरि मिलते हैं, और हरि के मिटाने से सब सुखादि नष्ट होता है, इसलिये हरि प्रेम की कहानी अकथ है ।। १० ।। जिस मरन से संसार

१ मन की मनसा मिटि गई ।। पा०

डरता है, उसी से मेरे भक्तों के मन में परम आनन्द है कि कब मरूंगा कि जिससे पूर्ण परमानन्द स्वरूप हरि से कब भेटूंगा ॥ ११ ॥ यह मरना भी विदेश का भला है कि जहां मोह ममता का विषय अपना कोई नहीं हो। वहां के जीवजन्तु सब शरीर का भोजन कर लें कि जिससे उनका सहज ही महोत्सव हो जाय ॥ १२ ॥

कबीर चेरा सन्तका, दासन के पर दास।
अब तो ऐसा ह्वै रहो, पांव तले का घास ॥ १३ ॥

जो नमये सो आपको, पर को नमै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नमै सो गरुआ होय ॥ १४ ॥

नीचा होये बड़ नफा, नमैं सो बिरला कोय।
हीरा हरी हजूर का, लहै स नीचा होय ॥ १५ ॥

जीवतमृतक होना चाहो तो सन्त का चेरा और दासों के परे दास होकर, ऐसा हो रहो कि जैसे पाँव तले की घास रहती है ॥ १३ ॥ समझो कि जो नमता है, सो अपने लिये नमता है, तराजू पर वस्तु घाल (घर) कर देखो नमने वाला अधिक होगा, ऐसे ही नमने वाला बड़ा होता है ॥ १४ ॥ इससे नीचा (नम्र) होने से बहुत नफा है, सो नमने वाला कोई विरला होता है, क्योंकि हजूर (प्रत्यक्ष) हरि रूप हीरा का जो लाभ करता है, सोई नीचा होता है ॥ १५ ॥

रोड़ा ह्वै रह बाट का, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृष्णा तजें, ताहि मिले भगवान ॥ १६ ॥

रोड़ा भै तो क्या भया, पन्थी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहियें, जस पैंड़े की खेह ॥ १७ ॥

खेह भया तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा नीर निपंग ॥ १८ ॥

नीर भया तो क्या भया, ताता सीरा होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय ॥ १६ ॥

इसलिये ममता अभिमान को त्याग कर मार्ग का रोडावत हो रहो। इसी प्रकार जो लोभादि को त्यागता है उसको भगवान मिलता है ॥ १६ ॥ उससे भी आगे मार्ग को खेह तुल्य, फिर जल तुल्य और निपंग (निश्चल) उससे आगे हरि तुल्य हो रहो ॥ १७-१९ ॥

हरी भया तो क्या भया, कर्ता हर्ता होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि भजि निर्मल होय ॥ २० ॥

निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल मांगै ठौर।
मल निर्मल सो रहित हैं, ते साधु कोइ और ॥ २१ ॥

मोती निपजे सोप में, सीप समुन्दर माहिं।
कोइ मरजीवा काढसी, दूजा की गति नाहिं ॥ २२ ॥

हरि दरिया सुभर भरा, जामें मुक्ता लाल।
मरजीवा लै नीसरै, पहिरि छमा को खाल ॥ २३ ॥

फिर हरि भाव की आशा को त्याग कर हरि भजन करके निर्मल होना चाहिये ॥ २० ॥ उसके बाद निर्मल स्थानादि की इच्छा से रहित होने से मल निर्मल दोनों से रहित चिदात्मनिष्ठ होना चाहिये ॥ २१ ॥ परन्तु वह निष्ठारूप स्थिति मोक्ष है, सो इस देह रूप सीप में सिद्ध होता है, सो देह संसार समुद्र में है उसको जीवतमृतक ही काढेगा, अन्य की गति नहीं है (जीवन की गम नाहिं) यह पाठान्तर है ॥ २२ ॥ सुन्दर भरा हुआ हरि दरिया में भी मुक्ता लाल है, उसे भी छमा खाल पहिर कर जीवतमृतक ही निकालता है ॥ २३ ॥

मैं मरजीवा समुंद का, पैठा सात पताल।
लाज कानि कुल छाड़ि के, गहि ले निकसा लाल ॥ २४ ॥

बुड़की मारी समुंद में, निकसे जाय अकाश ।
गगन मण्डल में घर किया, हीरा पाया दास ॥ २५ ॥
ऊंचा तरुवर गगन फल, विरला पंखी खाय ।
इस फल को तो सो भखै, जीवत ही मरि जाय ॥ २६ ॥
जब लग आश शरीर को, मिरतक हुआ न जाय ।
काया माया मन तजै, चौड़े रहै बजाय ॥ २७ ॥

हरि या भव समुद्र का यदि मैं मरजीवा हूँ. और सात पताल (ज्ञान की सात अवस्था सात चक्र) तक पैठा (समझा) हूँ तो कुल की कानि और लाज को छोड करके ही ज्ञान रत्न लेकर निकला हूँ ॥ २४ ॥ समुन्द (हृदय) में ध्यान लगाया, और ब्रह्माण्ड में जा निकसा, फिर वहां ही घर करके दास हरि को पाया ॥ २५ ॥ ऊंचा तरुवर (मनुष्य देह) का गगन में जो फल होता है, उसको विरला जीव खाता है, जो कि जीवत मृतक होता है ॥ २६ ॥ परन्तु जब तक देह की आशा है तब तक जीवत-मृतक हुआ नहीं जा सकता, इसलिये काया की माया (आशामोह) को और मन को त्याग कर चौड़े (मैदान) विभु स्वरूप में बजाय कर स्थिर होवे ॥ २७ ॥

मोहि मरने की चाव है, मरूं तो राम दुआर ।
मति हरि पूछैं वातरी, दास मुआ दरबार ॥ २८ ॥
मोहि मरने की चाव है, मरूं तो राम दुवार ।
की तनका कुटका करूं, की लै उतरूं पार ॥ २९ ॥

मूये को क्या रोइये, जो अपने घर जाय ।
रोइय बन्दीवान को, हाटे हाट बिकाय ॥ ३० ॥

सुन्न [1]सहर में पाइया, [2]तहँ मरजीवा मन्न ।
कबिरा चुनि चुनि ले गया, भीतर राम रतन्न ॥ ३१ ॥

१ सहज सुन्न । पा० ॥ २ जहें । पा० ।

मुझे मरने की इच्छा है, परन्तु राम के द्वार (उपाय) में मरूं, चाहे हरि बात भी नहीं पूछैं, परन्तु भक्त तो दरबार में मरा ॥ २८ ॥ राम के दरबार में मर कर (निरभिमानी) होकर चाहे देह को कुटका (सूक्ष्म) तनुमनसा का अभ्यास से करूं या इसे ज्यों का त्यों लेकर भी पार हो जाऊं तो भी ठीक है ॥ २९ ॥ फिर मूये को रोइये क्या कि जो अपने स्वरूप हृदय में जा रहा है, वन्धन वाला को रोना चाहिये, कि जो परवश होकर हाटे हाट बिक रहा है ॥ ३० ॥ मरजीवा मन वाला तिस निज घर रूप सुन्न सहर में राम रतन पाया, और वह जीव भीतर ही चुन २ कर राम रतन को प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

कबीर मरि मरघट गया, किनहूं न बूझी सार।
हरि आगे आदर लिया, गउ बच्छा की लार ॥ ३२ ॥
पैड़ा मांही पड़ि रहो, दुरबल मिरतक होय।
जिहि पैड़े यम लूटिया, बात न पूछै कोय ॥ ३३ ॥

जीव मर कर मरघट में गया, परन्तु भक्ति ज्ञानादि बिना कोई बात नहीं पूछता है। भक्त को भक्ति से हरि भी आगे से आदरपूर्वक लिया, जैसे कि गौ बछड़ा के पास आकर उसे साथ लेती है ॥ ३२ ॥ हरि मार्ग से भिन्न पैड़ा (मार्ग) में यदि तुम दुर्बल देह मृतकतुल्य होकर भी पड़ि रहो, तो जिन मार्गों में यम लूट चूका है, उन मार्गों में फिर भी पड़े रहने से कोई भी बात नहीं पूछता है, इसलिये जीवत मृतक भी होओ तो राम द्वार में होओ, अन्यत्र नहीं ॥ ३३ ॥

इति जीवनमृतक का अंग ॥

अथ जीवन्मुक्ति का अंग ॥ ७० ॥

जीवत मुक्ता जो नहीं, मुये न मुक्ता होय।
मूये पाछे मुक्ति ह्वै, तो मुक्ता सब कोय ॥ १ ॥

जो जन जीवत मुक्त है, मुये मुक्त है सोय।
जो जन जीवत मुक्त नहिं, मुए मुक्ति कहँ होय ॥ २ ॥

नर पशु बड़े गमार हैं, परे भरम के फन्द।
कबीरा खग पक्षी भला, निसदिन रहत अबंध ॥ ३ ॥

मुक्ता बाँयें दाहिने, मुक्ता आगे पीठ।
मुक्ता धरनि अकाश में, मुक्ता मेरी दीठ ॥ ४ ॥

राग द्वेष मोहादि बन्धन से जो जीते जी मुक्त नहीं है, सो मरने पर मुक्त नहीं हो सकता, मरते समय रागादि से मुक्ति के साधन नहीं हो सकते, मरने पर लोकान्तरादि की प्राप्ति मुक्ति हो, तब तो सब मरने वाले मुक्त ही होते हैं, देहान्तरादि में सब जाते हैं, वर्तमान देहादि से छूटते हैं ॥ १ ॥ इससे जीवन्मुक्त ही विदेह मुक्त हैं, अन्य नहीं ॥ २ ॥ पशु तुल्य नर बहुत गमार हैं इससे भ्रम के बन्धन में पड़े हैं, उनसे तो आकशगामी पक्षी भला हैं, जो सदा निर्बन्ध हैं ॥ ३ ॥ वस्तुतः मुक्त स्वरूप ही आत्मा सब दिशा में है, और मेरी दृष्टि में है, अज्ञान जन्य जीव में बन्ध है, सो उसी के ज्ञान से जीतेजी नष्ट होता है इत्यादि ॥ ४ ॥

पीछे मुक्ता जब भया, पद मुक्ता निर्वान।
रूप मुक्ति तब जानिये, देखै दृष्टि पिछान ॥ ५ ॥

सब जग बन्धन बांधिया, साधू है निर्बन्ध।
राखै खड्ग जु ज्ञान का, काटत फिरै जु बन्ध ॥ ६ ॥

जाको दरशन इत अहै, ताको दरशन ऊत।
जाको दरशन इत नहीं, ताको ईत न ऊत ॥ ७ ॥

जीवन्मुक्त ही जब मरन के पीछे मुक्त हुआ तब उसका वह निर्वाण (मन आदि का लय) रूप मुक्त पद कहा जाता है, और स्वरूप सत्य मुक्ति तो तब ही समझिये कि जब स्वरूप को पिछान (विवेक कर) के फिर ज्ञानानुभव दृष्टि से देखता है (साक्षात्करता है), क्योंकि उसी समय अज्ञानादि बन्धन से विमुक्त होता है ॥ ५ ॥ सब संसारी अज्ञान बन्धन से बंधा है, और साधू (ज्ञानी) निर्बंध है, और ज्ञान का तरवार रखता है, उससे अन्य के बन्धन को भी काटता फिरता है ॥ ६ ॥ जिसको मुक्तस्वरूप का दर्शन यहां है, उसको वहाँ (मरने पर) भी है, जिसको यहां नहीं है, उसको कहीं नहीं है ॥ ७ ॥

इति जीवन्मुक्ति का अंग ॥

अथ मांसाहारी का अंग ॥ ७१ ॥

मांस अहारी मानवा, परगट राकस जानि।
ताकी संगति जनि करें, परत भजन में हानि ॥ १ ॥

मांस खाय ते ढ़ेंढ़ सब, मद पीवै सो नीच।
कुल की दुर्मति परिहरै, राम कहै सो ऊँच ॥ २ ॥

"यक्षरक्षःपिशाचान्नं मधुमांसं सुरासवम्" इत्यादि वचन प्रकृति के अनुसार मांसाहारी मनुष्य परगट (प्रत्यक्ष) राकस (राक्षस-प्रेतविशेष-पिशाच) हैं। उनकी संगति रामदर्शनेच्छु नहीं करे, क्योंकि उनकी संगति से भजन विचारादि में हानि होती है ॥ १ ॥ मांस खाने ही वाले वस्तुतः ढ़ेंढ़ (चमार) हैं, और महापाप रूप मद (सुरा) पान करनेवाला नीच (महापापी) है, इसलिये यदि मांस भक्षण सुरापान कुल की दुर्मति रूप से प्राप्त हो, तो कुल की इन सब दुर्मतियों को त्यागै, और राम कहै (भजै) सोई ऊंच (श्रेष्ठ) है ॥ २ ॥

मांस मछलियां खात हैं, सुरा पान सो हेत।
ते नर जड़ से जाहिगें, ज्यों मूरी का खेत ॥ ३ ॥

यह कूकर का भक्ष्य है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिष मेलि हैं, नरक परे ते जाय ॥ ४ ॥

मांस भखै मदिरा पिवै, धन वेश्या सों खाय।
जूआ खेल चोरी करै, अन्त समूला जाय ॥ ५ ॥

मांस मछलियां खात हैं, सुरा पान सो हेत।
ते नर नरके जाहिगें, माता पिता समेत ॥ ६ ॥

मांस मछली खाने वाले और मद्य पान से (प्रेम) वाले एक दिन मूली के खेती के समान जर से नष्ट होंगे ॥ ३ ॥ यह मांसादि कूकरादि क्रूर अशुची प्राणियों के भक्ष्य है, उनको वस्तुतः मनुष्य देही कैसे खा सकता है, वे मनुष्य मुख में मांस देकर नरक जा कर पड़ते हैं ॥ ४ ॥ जो मांस खाता हैं, मदिरा पीता है अथवा वेश्या से धन लेकर वेश्या के व्यापार से धन कमा कर खाता है, जूआ का खेल और चोरी रूप बड़ा पाप करता है, सो अन्त में मूल सहित नष्ट होता है ॥ ५ ॥ मांस भक्षणादि करने वाले संगादि के प्रभाव से माता पिता सहित नरक में जायगें ॥ ६ ॥

मच्छ कच्छ अवतार हैं, समुझत नहीं गमार।
सुर नर मुनि जिहि जपत हैं, हांनि तिहि करै अहार ॥ ७ ॥

ग्राह सिंह अवतार हैं, समुझत नहीं गमार।
सुर नर मुनि जाको जपत, ताका करत सिकार ॥ ८ ॥

खुब खाना है खीचड़ी, माहिं परा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गला कटावे कौन ॥ ९ ॥

ब्राह्मण राजा बरन का, औरो कौम छतीस।
रोटी ऊपर माछली, [1]सबही बरन खबीस ।। १० ।।

मच्छ कच्छप अवतार हुए हैं, उनको भी गमार नहीं समझता है, कि जिन स्वरूपों को देवादि जपते हैं, तिन स्वरूपों को भी मार कर आहार करता है ।। ७ ।। तथा वराह, नरसिंह स्वरूप को समझने बिना शिकार करता है ।। ८ ।। खूब (सुन्दर पवित्र) भोजन की वस्तु खीचड़ी है कि जिसमें टुक (थोरा) लवन पड़ा हो। पराया का मांस खाकर गमार बिना अन्य कौन फिर बदले में गला कटावेगा ।। ९ ।। अन्य वर्णों के राजा ब्राह्मण तथा अन्य वर्ण और छतीस कौम सभी रोटी पर मछली धर कर खबीस (मुर्दा खोर-और प्रेम विशेष) हो गये हैं ।। १० ।।

विष्ठा का चौका दिया, हांड़ी सीझै हाड़।
छूत बरावै चाम की, ताका गुरु है रांड़ ।। ११ ।।
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिन की कौन हवाल ।। १२ ।।
आठ बाट बकरी गई, मांस मुला गै खाय।
अजहूं खाल खटीक के, भिस्त कहाँ ते जाय ।। १३ ।।
अंडा किन बिसमिल किया, घुन किन किया हलाल।
मछली किन जबहै करी, सब खाने का ख्याल । १४ ।।

विष्ठा (गोबर) का चौका देकर हांडी में हाड़ मांस सीझाता (पकाता) है, सो भी यदि चाम की छूति बराता (बचाता) है, तो उसका गुरु रांड है, अर्थात् वह स्त्री विवश मूर्ख के समान माया के वश में है ।। ११ ।। सचेत प्राणी के अपकार रहित बकरी के खाल काढ़ कर मांस खाने वालों की कठिन हवाल (दुर्दशा) होती है ।। १२ ।। अनुमन्ता आदि आठ को

[1] सबै बरन गे खीस । पा० ।।

पापी बना कर बकरी मानो आठ बाट में गई (नष्ट हुइ), मुल्ला उसके मांस खा गये, खटिक के घर में उसकी खाल अभी वर्तमान है, तहां मुल्ला जो कहते हैं कि जबह करने से बकरी को भिस्त मिलता है, उन्हैं समझना चाहिये कि वह बकरी भिश्त कहां से कैसे जायगी ॥ १३ ॥ और अंडा को किसने बिसमिल किया है, तथा घुन का किसने हलाल किया है, मछली का कौन जबह कब किया हैं, ये बिसमिलादि का वर्णन खाने के ख्याल (विचार समझ) से मिथ्या ही है ॥ १४ ॥

कबीर काजी स्वाद वश, जीव हतै तव दोय।
चढ़ि मसीत एके कहै, दरगह सांचा होय ॥ १५ ॥
काजी मुलना भरमिया, चले दुनी के साथ।
दिल सो दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ ॥ १६ ॥
काला मुँह करि करद का दिल से दुई निवार।
सबही रूह सुभान की, अहमक मुला न मार ॥ १७ ॥

काजी स्वादबश जब जीवघात करता है, तब उसको दो दीखता है, और मसजीद पर चढ़ कर एक दयालु का वर्णन करता है, इसका दरगह (ईश्वर सभा) में सांचा विचार होगा ॥ १५ ॥ दुनिया के साथ में काजी और मुल्ला भरमा है, दुनिया के साथ चलता है, इससे जब करद (छूरी) हाथ में लिया तब वह दीन (धर्म) दयादि को भूल गया और भूलता है ॥ १६ ॥ अब भी करद का मुख को काला करो (उसे त्यागो) दिल से द्वैतभाव को हटाओ, सब प्राणी को तुल्य समझो, क्योंकि सुभान (सर्वज्ञ खुदा) का ही सब रुह (जीव) हैं, हे नादान मुल्ला उन्हे नहीं मारो ॥ १७ ॥

मोलना चढ़ै मनारै, अलख न बहिरा होय।
जिस कारन तूं बांग दे, सो दिल अन्दर जोय ॥ १८ ॥
जोर करी जबहै करै, मुख सो कहै हलाल।
साहब लेखा मांगसी, तब की कौन हवाल ॥ १९ ॥

जोर किये ते जुलुम है, मागैं ज्वाब खुदाय।
खालिक दर खूनी पड़ा, मार मुँहें मुँह खाय ॥ २० ।

मुलना मनारे (मिनार-ऊंच स्थान) में चढ़ कर अलख को पुकारता है, परन्तु वह अलख बहिरा नहीं होता कि जिसके लिये जोर से पुकारा जाय, और जिसको पुकारते हो, उसे दिल में ही देखो ॥ १८ ॥ उसे सब दिल में जानने बिना बलात्कार से जबह करता है, और मूख से हलाल (पवित्र) कहता है। साहब जब इसका लेखा (हिसाब) मागेंगा, तब (उस समय) की कौन हवाल (दशा) होगी सो समझो ॥ १९ ॥ बलात्कार करने से यह काम जुलुम (अन्याय) है, इसका जवाब खुदा मांगेगा, फिर उस ईश्वर के दर (स्थान) में पड़ा (प्राप्त) खूनी मुँहे मुँह मार खायगा ॥ २० ॥

गला गुसा को काटिये, मियां कहर को मार।
जो पांचो बिसमिल करै, तब पावै दीदार ॥ २१ ॥
गला काटि कलमा पढ़ै, कीया कहै हलाल।
साहब लेखा मांगसी, तब की कौन हवाल ॥ २२ ॥
काटी कूटी जो करै, यह पाखंडी भेष।
निश्चय राम न जानहीं, कहें कबिर उपदेश ॥ २३ ॥

हे मियाँ! गुस्सा (क्रोध) के गला काट, कहर (जुल्म क्रूरता) को मारो, अविद्यादि सहित पांच इन्द्रिय को बिसमिल करे तब दर्शन पाता है ॥ २१ ॥ प्राणी के गला काट कर कलमा (मन्त्र) पढ़ता है, और हलाल (पवित्र) किया कहता है। परन्तु जब साहब लेखा (हिसाब न्याय) पूछेगें, तब कौन दशा होगी ॥ २२ ॥ जो प्राणी को काट कर कूटी (खंड २) करते हैं, उनका यह भेष पाखंडीका है, राम को निश्चय करके नहीं जानते हैं, यह उपदेश गुरु करते हैं ॥ २३ ॥

इति मांसाहारी का अंग ॥

———

अथ अमल अहारी का अंग ॥ ७२ ॥

भांग तमाखू छूतरा, सुरा पान सो खाहिं।
कहैं कबीर पुकारि के, निश्चय यमपुर जाहिं ॥ १ ॥

भक्त तमाखू ना भखै, भांग न तत्त्व बिनाश।
प्रेमी पोस्ता ना भखै, कहैं कबीर चिन्हास ॥ २ ॥

जो नर इन अमलन रचे, नाम अमल न खाय।
कहैं कबिर यह चिन्ह है, देखा ठोक वजाय ॥ ३ ॥

मैं मतवाला नाम का, मद का माता नाहिं।
मदमतवाला जो फिरे, सो मतवाला नाहिं ॥ ४ ॥

कलियुग काल पठाइया, भांग तमाखू फीम।
ज्ञान ध्यान की सुधि नहिं, बसे इन्हीं की सीम ॥ ५ ॥

छूतरा (छूततर-अत्यन्त अपवित्र) सो भी सुरा जो पीते हैं, और अन्य मादक छूततर खाते हैं ॥ १ ॥ तत्त्व को नष्ट करने वाला भांग भी न भखै, चिन्हास (चिन्ह) ॥ २ ॥ रचे (प्रेम किये) ॥ ३ ॥ काल ने कलियुग में भांगादि को भेजा कि जिससे ज्ञानादि के होस नहीं रहा, इन भांगादि के ही सीम (सीमा वश) में बसते हैं ॥ ४-५ ॥

इति अमल अहारी का अंग ॥

अथ सांकट (निगुरा) का अंग ॥ ७३ ॥

सांकट का मुख बिंब है, निकसत वचन भुवंग।
ताकी ओषधि मौन है, विष नहिं व्यापै अंग ॥ १ ॥

मैं तोहीं को कब कहा, सांकट के घर जाव।
[1]गहिरी नदिया बूडि मरु, सांकट संग न खाव ॥ २ ॥

सांकट संग न बैठिये, अपनो अंग लगाय।
तत्त्व शरीरा झरि परै, पाप रहै लपटाय ॥ ३ ॥
सांकट संग न बैठिये, करन कुबेर समान।
ताके संग न चालिये, परिये नरक निदान ॥ ४ ॥
कबिरा सांकट की सभा, तू मति बैठे जाय।
सुमति गमावै गांठ की, देसी कुमति बताय ॥ ५ ॥

बिंब (सर्प का बिल) क्रूरादि सांकट का वचन भुवंग (सर्प) है, मौन से उसका दोष नहीं लगता है ॥ १ ॥ सद्गुरु ने कब कहा कि सांकट के घर जाना चाहिये, गंभीर नदी में बूड़ मरना अच्छा है, परन्तु पापी के साथ पाप का अन्न खाना अच्छा नहीं है ॥ २ ॥ अपनी अंग लगा कर सांकट के साथ नहीं बैठो, उससे विवेकादि तत्त्व शरीर से निकल जायगा, और पाप बुद्धि लिपट जायगी ॥ ३ ॥ कर्ण कुबेर तुल्य सांकट के संग और व्यवहार से भी निदान (अन्त) में नरक में पड़ता है ॥ ४ ॥ सांकट की सभा में सुबुद्धि नष्ट होगी, कुबुद्धि वह बतायगा ॥ ५ ॥

सांकट ब्राह्मण मति मिलो, वैष्णव मिलु चंडाल।
अंक भरी भरि भेटिये, मानो मिले दयाल ॥ ६ ॥
सांकट सनका जेवरा, भींगे सो करराय।
दो अक्षर गुरु बाहरा, बांधा यमपुर जाय ॥ ७ ॥
सांकट हमरे कोउ नहिं, सबै वैष्णवा झारि।
संशय ते सांकट भया, कहैं कबीर विचारि ॥ ८ ॥
सांकट से सूकर भला, सोचैं सारा गाँव।
बूड़ो सांकट बापुरा, बाइस भरमी नांव ॥ ९ ॥

१ बहती नदिया ॥ पा० ॥

सांकट सूकर कूकरा, तीनों की मति एक।
कोटि यतन परमोधिये, तऊ न छाड़ै टेक॥ १०॥

हिंसक ब्राह्मण से नहीं मिलकर, अहिंसक चांडाल से मिलो, और अंक भर २ कर भेट करो कि मानो दयालु परमात्मा ही मिला॥ ६॥ सांकट सन के जेवरी (रस्सी) तुल्य ज्यों २ भींजता (जल तुल्य शान्त सज्जन से मिलता, वृद्ध होता) है, बढता है, त्यों २ क्रूर होता है, इसीसे वृहदारण्यक में वर्णित (अ. ५। २) प्रजापति के उपदेश रूप द अक्षर से रहित होता है, प्रजापति ने देव के लिये दम का, मनुष्य के लिये दान का, और असुर के लिये दया का एक द शब्द से उपदेश किया, सो सांकट नहीं सुनता है, न गुरु शब्द रूप दो अक्षर सुनता है, इसी से गुरु की आज्ञा से बाहर (अलग) रहता है, रामनाम नहीं जानता, इससे बांधा हुआ यमपुर जाता है॥ ७॥ सांकट (मांसाहारी शाक्तादि) हमारे किसी प्रकार के सम्बन्धी नहीं है, और वैष्णव सब प्रकार से सम्बन्धी है सो भी संशय से सांकट के समान अविवेकी हो गया है, यह विचार से समझने की बात है॥ ८॥ सम्पूर्ण ग्राम को शुचि साफ रखने वाला शूकर, सांकट से अच्छा है, जो कि सांकट हांड़ चामादि से अपना घर भी अशुचि करता है, इससे वह बपुरा सांकट तो नाव (समुद्र के जहाज) पर के बाइस (वायस-काग) के समान बूड मरे, अनन्त योनियों में भटके, उसकी चिन्ता क्या है॥ ६॥ क्योंकि सांकट सूकर कूकर इन तीनों की अभक्ष्य भक्षणादि में एक सी गति मति है, कोटि यतन से समझाने पर भी ये सब अपने टेक (कुटेव-आदत) को नहीं छोड़ते हैं॥ १०॥

निगुरा नर को तीन गुन, मोपा भरडा भांड़।
गत राड़ा की सेज पर, जहाँ पलोटै रांड़॥ ११।

गुरु विनु माला फेरता, गुरु बिनु देता दाम।
गुरु बिनु सब निष्फल भया, बूझो वेद पुरान॥ १२॥

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन में सौ सौ बार।
नगर नायका सत करै, जरै कौन की लार॥ १३ ॥

निगुरा नर में तीन गुन रहते हैं, एक मोहादि मद्य का पान रूप मोपा (ममता), दूसरा भरा हुआ द्रव्यों का भांडा (पात्र), तीसरा जहां रांड (वेश्या आदि) पलोटती हैं, तहां उनके शय्या पर गत (प्राप्त) होना ॥ ११ ॥ इन गुणों से युक्त रह कर गुरु बिना माला फेरता है, दान देता है, तो गुरु बिना किया हुआ सब निष्फल होता है, सो वेद पुराणादि के ज्ञाताओं से पूछो समझो। भगवद्गीता अ० १७ । १८ में श्रद्धा बिना किये गये हवन दानादि को असत् (निष्फल) कहा गया है ॥ १२ ॥ किसी एक तत्त्व में दृढ़ श्रद्धादि रहित होने से निगुरा (गुरु द्वारा अलब्ध मार्ग) पुरुष यदि दिन में सौ २ बार अनेक का स्मरण करता है, तो नगर नायका (वेश्या) के समान वह सत् (स्मरणादि धर्म) करके भी किस के लार (साथ-पास) में मुक्त होगा ॥ १३ ॥

लाख नाम नित प्रति ले, नहीं सन्त से भाव।
कहैं कबिर वा दास की, परै न पूरा दाव॥ १४ ॥

गुरू बतावैं साधु को, साधु कहै गुरु बूझ।
अरस परस की खेल में, भई अगम की सूझ॥ १५ ॥

गर्भ योगेश्वर गुरु बिना, लागे हरि के सेव।
कहैं कबिर बैकुण्ठते, फेरि दिया सुकदेव॥ १६ ॥

चाहे नितप्रति लाख नाम ले, परन्तु सन्त गुरु से भाव (प्रेम) नहीं हो, तो उस भक्त की भी पूरी दाव नहीं आती है ॥ १४ ॥ क्योंकि दीक्षा दाता गुरु भी सन्त की सेवा सत्संगादि को कर्तव्य समझाते हैं, और साधु जन गुरु से प्रश्नादि की रीति बताते हैं, फिर दोनों के साथ अरस परस की खेल (व्यवहार) में अगम तत्त्व की दृष्टि हुई और होती है ॥ १५ ॥

गर्भ के ही योगेश्वर (परमविरक्त जितेन्द्रिय) शुकदेव जी गुरु विना सर्वात्मा हरि की ध्यानादि सेवा में लगे, परन्तु विश्वास नहीं हुआ इससे वैकुण्ठ (सुमेरु) पर से फिर भूमि में जनक जी के पास व्यास जी से लौटाये गये ॥ १६ ॥

दारुक में पावक बसै, घुनका घर किय जाय।
यों हरि संगे निगुर को, काल ग्रास ही खाय ॥ १७ ॥

पूरे को पूरा मिलै, पूरा पड़सी दाव।
निगुरा तो कूवट चलै, जब तब करै कुदाव ॥ १८ ॥

जो कामिनि पड़दे रहै, सुनै न गुरुमुख बात।
सो तो होगी कूकरी, फिरै उघारें गात ॥ १९ ॥

दारुक (काष्ठ) में अग्नि के रहते भी वहाँ घुन घर करता है, अग्नि उस घुन से काठ की रक्षा नहीं करती है, क्योंकि वह अप्रकट है, तैसे हरि के संग में रहते भी निगुरा (अज्ञ) को काल ग्रासता और खाता है ॥ १७ ॥ इसलिये पूर्ण गुरु को जब पूरा शिष्य मिलता है, तब दाव पूरा पडती (रक्षा होती) है, और निगुरा कुमार्ग से चलता है, तब कुदाव (अनुचित) करता है, उसका ही फल भोगता है, पूर्ण नहीं होता है ॥ १८ ॥ गात (गात्र देह) ॥ १९ ॥

इति सांकट निगुरा) का अंग ॥

अथ पारख अपारख का अंग ॥ ७४ ॥

चन्दन गया विदेशरे, सब कोई कहैं पलास।
ज्यों ज्यों चूल्हे झोंकिया, त्यों त्यों अधिक सुवास ॥ १ ॥

पाय पदारथ पेलिया, कांकड लीन्हा हाथ।
जोरी बिछुरी हंस की, चला बुगां के साथ ॥ २ ॥

एक अचम्भा देखिया, हीरा हाट विकाय।
परखनहारा बाहरा, कौड़ी बदले जाय ॥ ३ ॥

चन्दन के ज्ञान रहित देश में चन्दन गया तो सब कोई पलास कहने लगे, परन्तु ज्यों २ चूल्हे में झोंका त्यों २ अधिक सुगन्ध प्रकट हुआ। अर्थात् सन्त के पहचान रहित के समाज में ज्ञानी सन्त गये तो उन्हें समान मनुष्य समझ कर कष्ट में डाला, परन्तु सन्त वहां भी प्रसन्नता पूर्वक ज्ञान प्रदान किये, जैसे रहुगण राजा के पुरुषों से जड भरत कष्ट में डाले गये, परन्तु वे महात्मा उपदेश देकर राजा को कृतार्थ किये। श्रीमद् भागवत् स्क० ५ । १० में देखिये ॥ १ ॥ परन्तु अत्यन्त अज्ञ जीव पाये हुए भी हीरा आदि रूप पदार्थ को पैरों से ढकेल कर हाथ में कंकर लिया, फिर हंस की जोरी बिछुरी तब बक के साथ चला, अर्थात् कैकेयी राम का अनादर किया, राज्य लिया, फिर राम लक्ष्मण के वन जाने पर मन्थरा के साथ चली ॥ इसी प्रकार मनु के तप करने पर लक्ष्मी सहित भगवान प्रकट हुए, तब भगवत्प्राप्ति मुक्ति नहीं मांग कर पुत्र मांगा, फिर लक्ष्मी नारायण के लुप्त होने पर बक-वृत्ति समाज के साथ चले ॥ २ ॥ इससे एक आश्चर्य देखा कि ज्ञानादि रूप हीरा संसार में बिकता है, सत्संगादि से मिलता है, तथा आत्मानन्दादि हीरा की यहाँ प्राप्ति होती है, परन्तु बकवृत्ति के संग रह कर परखने वाले उसकी प्राप्ति से बाहर (रहित) हैं, क्योंकि विषयादि रूप कौडी के बदले में वह हीरा जाता है, अर्थात् पुत्र राज्यादि का ग्रहण करके उसे त्याग देते हैं ॥ ३ ॥

मान उन्मान न तोलिये, शब्दक मोल न तोल।
मूरख लोग न जानसी, आपा खोयो बोल ॥ ४ ॥
कबीर गुदरी बीखरी, सौदा गया बिकाय।
खोंटा बांधा गाठरी, खरा लिया नहिं जाय ॥ ५ ॥

यह आत्मतत्त्व और उसके उपदेशादि रूप हीरा को मान (प्रमाण) इन्द्रियादि रूप उन्मान (तराजू) से नही तौलना चाहिये, क्योंकि इस शब्द

का मोल वा तौल (माप) नहीं है। मूर्ख लोग इस अमूल्य विभु तत्व को नहीं जानता है, इससे बोल (मिथ्या वाचारम्भणमात्र) में अपने स्वरूप को गमाता है, और गमाया है। यही कौड़ी बदले हीरा को जाना है ॥ ४ ॥ गुदरी (बाजार-हाट) बिखरी (उस में वस्तु बिकने के लिये फैलायी गई) अर्थात् सृष्टि हुई और इसमें प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग के व्यवहार विचार ज्ञान वस्तु सब प्रकट हुए, और सुन्दर २ सौदा बिका गये, । मुमुक्षु भक्त जन ज्ञान ध्यानादि की प्राप्ति किये, परन्तु जिसने खोंटा गाठरी (विषय वासनादि) बांधा, धरा, उससे खरा (सत्य) लिया नहीं जा सकता है। ५ ॥

पैड़े मोती बीखरी, अन्धा निकसा आय।
जोंति बिना जगदीश की, जगत उलाड़ा जाय ॥ ६ ॥
जगत भुला जंजाल में, सुनि सुनि वेद पुरान।
तन मन की कछु सुधि नहीं, बकि बकि मर हैरान ॥ ७ ॥
कबीर यें जग आंधरा, जैसी अन्धी गाय।
बछरा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाय ॥ ८ ॥

सत्संग के मार्ग में ज्ञानादि मोती बिखरी है, परन्तु उधर अविवेकी आ निकला तो जगदीश की ज्योति (विवेक) विना जगत में ही उलट कर जाता है, जैसे कि जगदीश की दी हुई नेत्र की जोति बिना अन्धा मनुष्य मार्ग में पड़ी हुइ मोती को नहीं लेकर खाली घर को जाता है ॥ ६ ॥ वेद पुराणादि को सुन २ कर भी अज्ञ जीव संसार के जंजाल (विस्तार मोह) में भूला है, तन मन के अन्दर वर्तमान साक्षी स्वरूप की कुछ भी सुधि (ज्ञान) नहीं रहने से व्यर्थ बक २ कर हैरान हो कर मरता है ॥ ७ ॥ ये संसारी ऐसे अन्धे हैं, जैसे गाय अन्धी (अज्ञ) होती है, इसीसे उसके बछुडे के मरने पर भी ऊभी (खडी) होकर चाम चाटती है, और दूध देती है, ऐसे ये साक्षी के ज्ञान बिना जड से आनन्दित होते हैं ॥ ८ ॥

नाम[1] रतन धन पाइ कर, गांठी बांधि न खोल ।
नहिं पाटन नहिं पारखी, नहिं गाहक नहिं मोल । ६ ।

नाम[2] पदारथ समुझि में, खानि खुली घट माहिं ।
सेती[3] में तिहि देत हौं, गाहक कोऊ नाहिं ॥ १० ॥

जहँ गाहक तह मैं नहीं, मैं तहँ गाहक नाहिं ।
परिचय बिनु फूला फिरै, पकरै सब की छाँहि ॥ ११ ॥

अनजाने का कूकना, कूकर का सा सोर ।
ज्यों अँधियारी रैन में, साह न चीन्है चोर ॥ १२ ॥

नाम (सत्योपदेश ज्ञान) रूप रतन धन पाकर सर्वत्र उसे नहीं खोलो, उसकी चर्चा नहीं करो, क्योंकि सर्वत्र उसके पाटन (पत्तन बाजार) पारखी, गाहक और मोल नहीं है ॥ ६ ॥ नाम रूप पदार्थ को समझने से ही मेरे मन में घट में उसकी खानि (आकर) खुली (प्रकट हुई) है, उसको मैं सबको सेती (मूल्य बिना) देता हूं, तो भी इसके कोई ग्राहक नहीं है ॥ १० ॥ यह संसारी जहां गाहक है (जो चाहता है) तहां विषयादि में मैं नहीं हूँ, और जिस साक्षी स्वरूप में मैं हूँ तहां (उसका) गाहक नहीं है, इससे आत्म परिचय बिना विषयादि के लाभ मात्र से फूला (गर्वमुक्त) फिरता है, और देवादि सब की छाया (शरण) को पकडता है (पकरि शब्द की बांहिं) यह पाठान्तर है ॥ ११ ॥ अनजान (अज्ञ) का बोलना कूकर के समान सोर (हल्ला) करना है । जैसे अन्धेरे में चोर साधु को पहचाने बिना रात में कुत्ता भूकता है, तैसे आत्मज्ञ आत्मा को पहचाने बिना अज्ञ भूकता है ॥ १२ ॥

नैन न जानै प्रेम सो, वरे न कीया सैन ।
अलख पुरुष ही ना लखा, खाक पड़ो यह नैन ॥ १३ ॥

---

१ राम । २ राम रतन धन मुक्ति मे । ३ सेती मेती देत हौं । पा० ॥

नैना सोई जानिये, जाके हिये विवेक ।
नैन खोंट तब जानिये, साहब को नहिं देख ॥ १४ ॥

सागर मणि माणिक भरा, चिन्हत नाहीं कोय ।
माणिक को तो सो लखै, जाको गुरु गम होय ॥ १५ ॥

कहैं कबिर कासे कहौं, यही जगत है अन्ध ।
सांचे सो भागा फिरै, है झूठे को बन्द ॥ १६ ॥

कुछ विवेकादि नैन (नेत्रवाला) भी यदि ज्ञानी गुरु राम को प्रेम से नहीं जानता है, तो वर (सर्वात्मा स्वामी) में समाधि निन्द से शयन नहीं किया, इससे अलख पुरुष को साक्षात् नहिं लखा तो इस नैन में खाक पड़ो (यह व्यर्थ है) ॥ १३ ॥ नैना (नेत्रयुक्त) सोइ पुरुष को जानना चाहिये कि जिसके हृदय में पूर्ण विवेक हो, उस नैन को तब खोंट (दोषी) जानना चाहिये कि जब साहब को नहीं देखता हो ॥ १४ ॥ संसार सागर में विज्ञानी ब्रह्मात्मारूप मणि माणिक भरे हैं, परन्तु कोई अज्ञ नहीं चीन्हता है माणिक को वही समझ सकता है कि जिसको गुरु से गम (विवेकादि) प्राप्त हो ॥ १५ ॥ अन्ध (अज्ञ-अविवेकी), साचे (सद्गुरु-ज्ञानी) बन्द (बन्दा-दास) ॥ १६ ॥

जीव जन्तू जलहर बसैं, गये विवेक भुलाहिं ।
जल के जलहर यों कहैं, हम उडुगणपति आहि ॥ १७ ॥

प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माहिं ।
जल के जलचर उडुपती, उडुगन आये नाहिं ॥ १८ ॥

कबीर खांडहि छाडि कर, कंकर चुनि चुनि खाय ।
रतन गमावै रेत महँ, फिर पाछे पछताय ॥ १९ ॥

सुख का सागर छाड के, दुखदुख मेलै पाँव ।
साधु वचन मानै नहीं, चले रंक अरु राव ॥ २० ॥

जलहर (जलजीवी) जीव जन्तु जल में बसते हैं, और तारा गन तथा चन्द्रमा भी जल में प्रतिबिम्ब रूप बसते हैं, तहाँ जल जन्तु सब विवेक भूल गये हैं, इससे कहते हैं कि हम भी उडगण पति चन्द्र है, क्योंकि जल में दोनों बसते हैं, अर्थात् अज्ञ जीव अपने तुल्य ही ज्ञानी ईश्वर को भी समझते हैं ॥ १७ ॥ परन्तु प्रातःकाल में व्याधा जाल बिगा, तब उस में जल चर सब आ गये, परन्तु उस जाल में तारा चन्द्रमा नहीं आये, अर्थात् मरने पर अज्ञ कर्म कालादि के वशी हुए, ज्ञानी भक्तादि नहीं हुए ॥ १८ ॥ विवेक बिना अज्ञ जीव ज्ञानादि खांड़ को त्याग कर विषयोपार्जन करके भोगता है, आत्मरत्न को देह में छिपाता है, परन्तु फिर पाछे पश्चात्ताप करता है ॥ १९ ॥ सुख का सागर ब्रह्मात्मा को छोड़ कर कर्मादि रूप दुःख में मन लगाता है, साधु बचन को नहीं मान कर संसार में रंक राजा सब चलता है ॥ २० ॥

अमृत केरी पोटरी, सिर सो धरी उतारि।
जासो मैं एके कहौं, सो मोसो कह चारि ॥ २१ ॥

जिन जाना तिहि निकट है, रहा सकल भरि पूर।
कबिर जानिये बाहिरे, नियरे ही ते दूर ॥ २२ ॥

शेख मोजायक मुनियति, पीर औलिया झारि।
बड़पन चाहैं आपना, मरैं पुकारि पुकारि ॥ २३ ॥

बेंठी मुसली सिर धुनै, धरैं रोजा भरि चन्द।
दिल बेदिल जानै नहीं, सो दिल मूसल चन्द ॥ २४ ॥

ब्रह्मात्मा रूप अमृत की पोटरी को सद्गुरु ने मानो शिर से उतार कर उपदेश रूप में रखा है, परन्तु आश्चर्य है कि जिसको मैं एक ही अ- (नित्यमुक्त) वस्तु कहता हूँ, सो मुझे चार मोक्ष ईश्वरादि की ता सुनाता है ॥ २१ ॥ जिन्होंने समझा है, उनके पास में ही वह एक ः

है, क्योंकि वह सब में व्याप्त है, यदि उसे बाहर लोकान्तरादि में समझा जाय, तो नियरे होते भी दूर है ॥ २२ ॥ और दूर होने ही से शेखादि सब अपना २ बड़प्पन चाहते हैं, और पुकार २ कर मरते हैं ॥ २३ ॥ मुसली (मुसलमानों की स्त्री) भी बैठकर सिर धुनती है, तथा चन्द्र दर्शन पर रोजा धरती (करती) है, परन्तु उसका दिल वेदिल (दोष) को नहीं समझता है, इससे उसका वह दिल मूसलचन्द (महा स्थूल है) ॥ २४ ॥

सार न बूझै मनमुखी, बाम विचच्छन चोर।
सब दुनियाँ जहड़े गई, हटा न मानै मोर॥ २५ ॥

अपने अपने सीर पर, सबह्निन लीन्हा मान।
हरि की बात दूरी परि, काहु न लीन्ही जान॥ २६ ॥

पायो पर पायो नहीं, हीरा हड्डी मार।
कहैं कबिर योंही गया, पारख बिना गमार॥ २७ ॥

हंसा तो महरान का, आया थलिया माहिं।
बगुला करि करि मारिया, मरम जु जानै नाहिं॥ २८ ॥

मनमुखी (मनोवशवर्ती) मनुष्य सार शब्द तत्त्व को नहीं बूझता (समझता) है, इससे वाममार्गी विचच्छन (चतुर) चोर होता है, इससे सब दुनियाँ जहड़े (धोखे) में गया, कोई सद्गुरु का हटा (निवृत्ति का उपदेश) को नहीं मानता है ॥ २५ ॥ सब अपने २ शिर पर किसी को मान लिया है, इससे सर्वात्मा हरि की बात दूर में पड़ गई, किसी ने जाना नहीं ॥ २६ ॥ हरि रूप हीरा को बहुत मनुष्य पाया भी (समझा भी), परन्तु हड्डी (तुच्छ विषय उसकी हिर्स-इच्छा तृष्णा) को मारकर यथार्थ रूप से नहीं पाया, इससे गमार मनुष्य पारख बिना यों ही (व्यर्थ ही) मर गया ॥ २७ ॥ महरान (महाऽरण्य-मानस) का हंस किसी प्रकार भूमि स्थल में आ गया, तो भेद जानने बिना लोग बक समझ कर मारने लगे, अर्थात्

विवेकी परमहंस लोग भी अज्ञ समाज में मारे जाते हैं, जैसे कि शुकदेवजी को बालक सब मारते थे, और कबीर साहब कसनी पाये थे ॥ २८ ॥

हंस बगा का पाहुना, कोइ एक दिन का फेर।
बगुला काहे गरबिया, बैठा पंख बिखेर ॥ २९ ॥

बगुला हंस मनाय ले, नीरा रुका बहोर।
या बैठा तूं ऊजला, तासो प्रीति न तोर ॥ ३० ॥

कोइ एक दिन के फेर से किसी आपत्ति आदि काल में हंस बक का पाहुन (अतिथि) हुआ, तो बक गर्व किया और पांख फैलाकर बैठा ही रह गया, सत्कार नहीं किया, सो क्यों, अर्थात् जंगलादि के निवास योग्य परमहंस यदि संसारी के पाहुन हुए तो वह अज्ञान से ही अनादर करता है ॥ २९ ॥ बकुला को उचित है कि सत्कार करके हंस को मनाय ले, और अपने नीरा (नीड़-वासस्थान) में फिर उसे रोक कर रखे, क्योंकि इस हंस के बैठने से तुम ऊज्जवल (पवित्र) हो, उससे प्रीति नहीं तोरो, परमहंसों के सत्कार से संसारी पवित्र होते हैं, इससे आगन्तुक सन्त को मकान पर रख कर सेवा करना उचित है ॥ ३० ॥

जब गुन को गाहक मिलै तब्र गुन लाख विकाय।
जब गुन को गाहक नहीं, कौड़ो बदले जाय ॥ ३१ ॥

हीरा[१] बनिजै जौंहरी, लै लै माडां हाट।
जब हि मिलेगें पारखी, तब हीरों की साट ॥ ३२ ॥

श्रुति सनेहि साधू मिले, मिलि मिलि करै विचार।
बोले पीछे जानिये, जो जाके व्यवहार ॥ ३३ ॥

प्रकाशादि गुणवान् हीरा आदि पदार्थ का गुण के गाहक जब मिलता

१ हरि हीरा जन जोहरी। पा० ॥

हैं, तब गुणवान लाखों में बिकता है, नहिं तो गाहक बिना कौड़ी के बदले में भी जाता है॥ अर्थात् शमदमादिमान परमहंस विवेकी से सत्कृत और अन्य से अनादृत होते हैं ॥ ३१ ॥ क्योंकि जैसे हीरा व्यवहार जौहरी ही करता है, और ले २ कर हाट में मांडता (साजता) है, और वहाँ जब पारखी मिलेंगे तभी हीरों की साट (मूल्य) होगा, अन्यथा नहीं, तैसे सज्जन महात्मा भक्त अपने २ शमादि गुणों का संपादन करते हैं, उन गुणों का आदरादि विवेकीं ही कर सकता है, अन्य नहीं ॥ ३२ ॥ श्रुति (वेद-सुरति-ध्यान और ज्ञान) के प्रेमी जब सन्त परस्पर मिलते हैं, तब मिलकर अध्यात्म विचार करते हैं, तहाँ बोलने के बाद लौकिक व्यवहार भी जाना जाता है कि जो व्यवहार जिसका रहता है, (श्रुति सनेही के संशय नही) पाठान्तर है, उसका संशय रहित अर्थ है ॥ ३३ ॥

मेरी बोली पूरवी, ताहि न चीन्है कोय।
मेरी बोली सो लखै, धूर्व पूर्व का होय॥ ३४ ॥
मैं तो सबही की कही, मेरी कोइ न जान।
पूरव की बातें करौं, पच्छिम जाय समान॥ ३५ ॥
कबीर देखि परखि ले, परखि के मुखाँ बुलाय।
जैसी अन्दर होयगी, तस मुख निकसै धाय॥ ३६ ॥

मेरी (सद्गुरु की) बोली पूर्वी (पूर्व वर्तमान कारण के बोधक) है, उसको कोई चिन्हता नहीं है, मेरी बोली को वह समझेगा, कि जो धूर्व (ध्रुव-निश्चित-शाश्वत) पूर्व (कारण) का जिज्ञासु अधिकारी होगा ॥ ३४ ॥ मैंने तो सब की आत्महित की बात कही है, परन्तु मेरी बात को कोई जानता नही हैं, इससे में पूर्व (कारण) की बात करता हूँ, और सब पश्चिम (कार्य) में समाया जाता है ॥ ३५ ॥ इसलिये प्रथम मनुष्य को आंख से देख कर चाल व्यवहार से उसका पारख कर लो, तब मुख से बोलावो, फिर जैसी वासना अन्दर होगी तैसी मुख से दोड़ कर निकलेगी ॥ ३६ ॥

जो जैसा उनमान का, तैसो तासों बोल।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गांठि न खोल ।। ३७ ।।
सहज तराजू आनिकर, सब रस देखा तौल।
सब रस माहिं जीभ रस, जो कोइ जानै बोल ।। ३८ ।।
पहिले शब्द पिछानिये, पीछे कीजै मोल।
पारख परखै रतन को, शब्द का मोल न तोल ।। ३९ ।।

जो मनुष्य जैसा उन्मान (तौल-योग्यता) का है, उससे ऐसी ही बात बोलो, और जो पोता (कांच की माला) का भी गाहक नहीं है, सद्धर्म दया दानादि का उचित लोक व्यवहार का भी ग्राहक (जिज्ञासु) नहीं है, उसके आगे शाश्वत आत्म रत्न रूप हीरा के गांठि को नहीं खोलो ।। ३७ ।। सहज स्वभाव धारणा रूप तराजू ला कर सब रस (स्वाद गुण) को तौल कर देखा, तो सब रस में उत्तम जीभ का रस (शब्द) को देखा, यदि कोई बोलना जाने ।। ३८ ।। इसलिये प्रथम शब्द को विवेक पूर्वक समझिये, फिर उसका मोल करिए, क्योंकि पारख से जिस रतन को परखता है उसका तो मोल तोल है, परन्तु जान कर बोला गया ज्ञानी के शब्द का मोल तोल नहीं है, वह अमूल्य अगाध है ।। ३९ ।।

राम रसायन प्रेम रस, अमरित शब्द अपार।
गाहक बिना न नीकसै, मानिक कनक कोठार ।। ४० ।।

हरि हीरा मन[1] में हटा, पट्टन प्राण सुघट्ट।
गाहक बिना न खोलिये, हीरा केरी हट्ट ।। ४१ ।।

हीरा तहां न खोलिये, जहँ खोटी है हाट।
कसि करि गांठी बांधिये, चलिये अपने बाट ।। ४२ ।।
एक ही बार परखिये, ना वह बारंबार।
बालू तौहूं किरकिरी, जो छानै सौ बार ।। ४३ ।।

---
१ सन मेहटा । पा० ।।

सर्वात्मा राम रसायन (परमानन्द परप्रेम का आश्रय स्वरूप और विषय) हैं, प्रेम रस है, अपार अमृत रूप उस राम के बोधक शब्द है, उस शब्द रूप ही माणिक और कनक का कोठार (भंडार) ग्राहक बिना नहीं निकलता है ॥ ४० ॥ हरि रूप हीरा का मन में प्रकट हटा (हाट-दुकान) है, और उस हाट का आश्रय रूप प्राण सुघट्ट (सुमार्गादियुक्त) पट्टन (पत्तन-नगर) है, उक्त हाट को तहां नहीं खोलो कि जहां ग्राहक नहीं हो ॥ ४१ । खोटी (मिथ्या) वस्तु के हाट में भी हीरा नहीं खोलो, कस कर हृदय में रख कर अपने मार्ग में चलो ॥ ४२ ॥ और हीरा के अनधिकारी को एक बार ही अच्छी तरह समझ लो, बालू को सौ बार छानने चालने पर भी उस में किरकिराहट रहेगीही ॥ ४३ ॥

राम रतन धन कोठरी, गाहक आगे खोल ।
जबहि मिलेगा पारखो, लेगा महँगें मोल ॥ ४४ ॥

तन मंजूस[1] मन रतन है, चुपकी दे हट ताल ।
गाहक बिनु नहि खोलिये, कुञ्जी शब्द रसाल ॥ ४५ ॥

हरि हीरा मन जौंहरी, परखि निरखि हिय लेत ।
लें लुहार करि गहन में, ज्ञान चोट घन देत ॥ ४६ ॥

हरि मोतिन की माल है, पोया कांचे धाग ।
यतन करो झटका घना, टूटेंगी कहुँ लाग ॥ ४७ ॥

रामस्वरूप रतन धन की कोठरी (विचार-वचन) को योग्य ग्राहक (जिज्ञासु) के आगे प्रकट करो, जब विवेकी मिलेगा, तब महंगे मोल (प्रेम आदर) से लेगा । (कोठरी के मोटरी) पाठान्तर है ॥ ४४ ॥ तन रूप मञ्जूषा (पिटक-पेटी) में मन (ज्ञान-बुद्धि-साक्षी) स्वरूप रतन है, तहाँ चुपकी रूप ताला देकर वहां से हट जाओ (देहाभिमान को छोड़ दो)

---

१ सन्दूक । पा० ॥

उसके रसाल शब्द कुञ्जी है, उससे भी गाहक बिना पेटी को नहीं खोलो (कुञ्जी के पुञ्जी) पा० ॥ ४५ ॥ हरि रूप हीरा को मन रूप जौंहरि से परख कर, हृदय को लुहार करके विचार गहन (कठिन अहरन) पर ज्ञान घन के चोट दे कर, देख कर लेने वाले लेते हैं ॥ ४६ ॥ हरि मोतियों की माला तुल्य है सो कांचे धागा तुल्य देह मन में पोया (प्राप्त-अनुभूत) है, और यहाँ झटका घना है, इसलिये यतन करो कि कहुँ लग कर टूटे नहीं ॥ ४७ ॥

पारख कीजे साधु की, साधु ही परखै कौन।
गगन मंडल में घर करै, अनहद राखै मौन ॥ ४८ ॥

ज्ञानी जन है जौंहरी, करमी सकल मजूर।
देह भाव का टोकरा, तिन के शिर भरपूर ॥ ४९ ॥

होहू जौंहरी जगत में, घटकी आँखी खोल।
तुला समारि विवेककी, शब्द जवाहिर तौल ॥ ५० ॥

साधु की पारख करो कि साधु निश्चय (सत्य) बुद्धि से कौन वस्तु को परखता है, और वह गगन मंडल में घर करता है, तथा अनहदात्मा को गुप्त रखता है ॥ ४८ ॥ ज्ञानी जन आत्म रतन के जौहरी हैं, सब कामी कर्मी मजदूर हैं, और देह में आत्मभाव की टोकरा तिन के शिर पर वास-नादि से भर कर वर्तमान हैं। (देह भार का लिये शीस। तिन के सिर पर धूर) पाठान्तर है ॥ ४९ ॥ जगत में जौंहरी (ज्ञानी) होओ, हृदय की विवेक दृष्टि को खोलो, फिर विवेक की तुला बना कर सार शब्द रूप जवाहिर (रत्न) को तौलो (प्राप्त ज्ञात करो)। कबीर जग के जौंहरी) यह प्रथम चरण का पाठान्तर है ॥ ५० ॥

हीरा परखै जौंहरी, शब्द हि परखै साध।
कबीर परखै साधु को, ताका मता अगाध ॥ ५१ ॥

हड्डि मारि हीरा लहा, नौ करोड़ को हीर।
जा मारग हीरा लहा, सो क्यों तजे कबीर ॥ ५२ ॥
लालहि जोति अपार है, सिन्धु माहिं बलते दिये।
मोल तोल की गम नहीं, नौ करोड़ दशके किये ॥ ५३ ॥

गुरु आत्मस्वरूप हीरा को विवेकी परखता है, और सार शब्दादि को चतुर ज्ञानी सन्त परखते हैं, जो उस साधु को भी परखता है, उसकी बुद्धि अगाध रहती है ॥ ५१ ॥ हड्डी मार कर (तप गुरुशुश्रूषा आदि से देह को गला कर-काम तृष्णादि को त्याग कर) जो नव द्वार के प्रकाशक होने से मानो नव करोड के है, उस हीरा को जिस मार्ग से लाभ किया गया, उस मार्ग को विवेकी प्राणान्त तक कैसे त्याग सकता है, अर्थात् जिज्ञासु जीव प्रथम ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु आदि की भक्ति करता है, पीछे कृतघ्नता की निवृत्ति के लिये भक्ति करता है, सो अन्यत्र प्रसिद्ध है (हड्डि मारि के हरि मारग) पाठान्तर है, सोई प्रसंगानुसार है ॥ ५२ ॥ यद्यपि आत्माराम लाल (रत्न) की जोति अपार है, जिससे शरीर और संसार समुद्र में अनन्त दिये (दीप) जलते हैं, इससे उसका मोल तोल के गम नहीं है, परन्तु दश इन्द्रियों द्वार के किये गये नौ करोड मूल्य कहे गये हैं ॥ ५३ ॥

जो हंसा मोती चुगै, कंकर क्यों पतियाय।
कंकर माथा ना नँवै, मोति मिले तो खाय ॥ ५४ ॥

मोती है बिनु सीप का, जगर मगर उजियार।
कहैं कबिर तब पावई, भोजन मिले हमार ॥ ५५ ॥

काया माहिं कबीर है, ज्यों पुहुपन में बास।
कै जानै कोइ जौंहरी, कै जानै कोइ दास ॥ ५६ ॥

गायन के मैं मुख वसौं, श्रोता के बस कान।
ज्ञानी के हिरदै बसूं, भेदी का निज प्राण ॥ ५७ ॥

जो विवेकी आत्मज्ञान पाया, सो विषय में सत्यादि बुद्धि कैसे करेगा, वह विषयादि के लिये या विषय के प्रति शिर नहीं झुकायेगा, मोती ही मिलने पर खायेगा (आत्मानुभव चिन्तन ही करेगा) ॥ ५४ ॥ वह आत्म-मोती सीप के बिना (निराधार) है, सो जाग्रदादि जगत के मार्गावस्था में भी उजियार (प्रकाश) करता है, परन्तु जब मनुष्य को हमारा विवेकादिमय शुद्ध आहार मिले तब उस मोती को पाता है (आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः) इत्यादि छान्दोग्य श्रुति का बचन है ॥ ५५ ॥ देह में ही कबीर (आत्मा गुरु) है, जैसे पुष्प में बास रहता है, परन्तु इस बात को क्या तो शुद्धाहारादि वाला विवेकी जानता है, नहीं तो कोई भक्त जानता है ॥ ५६ ॥ गायक (वक्ता) के मुख में, श्रोता के कान में, ज्ञानी के हृदय में, भेदी भक्त के प्राण में मैं (सर्वात्मा गुरु) बसता हूँ ॥ ५७ ॥

सुरति बाँधि हंसा चला, पलक न लावै नैन ।
जहाँ पलक तहँ काल हैं, सुनो हंस सुख बैन ॥ ५८ ॥

बैन कहीं हंसा सुनो, बहुत सुरति चित लाय ।
बहुत हंस परमोधिया, बिरला पहुँचे आय ॥ ५९ ॥

भवसागर में काग हैं, कोइ कोइ हंस हमार ।
सुरति करै सतलोक की, छाड़ि भरम का भार ॥ ६० ॥

हंसा सिंहल द्वीप का, उड़ि आया परदेश ।
रतन पवारी ना चुंगे, सुमिरै अपना देश ॥ ६१ ॥

मैं गायनादि के मुखादि में बसने वाला साक्षी स्वरूप हूँ, उसमें ध्यान बांध कर जो विवेकी चला, सो उस विवेकी नेत्रमें पलक नहीं लाता है, निरन्तर ध्यान रखता है, क्योंकि जहां पलक है, तहां ही काल (मृत्यु) है, हे हंस ! यह सुख की बात सुनो ॥ ५८ ॥ गुरु रूप से जो बात मैं कहता

हूँ उस बात को चित्त में बहुत ध्यान लगा कर सुनो, बहुत जीव को समझाने पर भी बिरला ध्यान ही वाला तत्त्व पर आ पहुँचा ॥ ५९ ॥ प्रायः भवसागर में काक वृत्ति वाले अशुद्धाहारी जीव हैं, कोई २ शुद्धाहारी विवेकी हमारे हंस हैं, जो कि ससार के भ्रम का भार को छोड़ कर सत्य स्वरूप लोक (दर्शन-प्रकाश) की सुरति (ध्यान) करते है ॥ ६० ॥ सो ध्यान करने वाले मानो सिंहल द्वीप के हंस है (ब्रह्मानन्द के अधिकारी जीव हैं) किसी कर्मवश परदेश (देह) में उड़ कर आ गये हैं, उनके आगे यहाँ के रत्न भी पवारी जाय (दिया जाय) तो उसे नहीं चुंगते हैं, यहां की सम्पत्ति आदि से तृप्त नहीं होते हैं, किन्तु अपना देश (स्वरूप) का स्मरण करते हैं ॥ ६१ ॥

हंसा देश विदेश का, परे कुदेशे आय।
जाका चारा मोति है, घोंघी क्यों कर खाय ॥ ६२ ॥

उत्तर दखिन पूरब पछिम, चार दिशा परमान।
उत्तर दिशा कबीर का, अमरा पुर अस्थान ॥ ६३ ॥

विशेष सुदेश का अधिकारी जीव यदि कर्म वश कुदेश में भी आ परे, तो जिसका मोती भोजन है, सो घोंघी कैसे खायेगा, अर्थात् कुसङ्ग में भी विवेकी देहासक्त भोग परायण नहीं होकर आत्मविचारादि करेगा ॥ ६२ ॥ इस देह में भी उत्तरादि चार दिशा प्रामाणिक हैं, उस में उत्तर दिशा (हृदय) कबीर का (ज्ञानी का) है, वही अमरापुर स्थान है, वहां ही की स्थिति विचारादि से अविनाशी मोक्ष स्थान प्राप्त होता है। (उत्तम देश) यह पाठान्तर है, तब दिशा के प्रसिद्ध अर्थ उत्तम देश आत्मा हैं जो सब देवपुरादि का भी अधिष्ठान है, ॥ ६३ ॥

इति पारख अपारख का अंग ॥

———

अथ निन्दा का अंग ॥ ७५ ॥

लोग बेचारा निन्दहिं, जिन नहिं पाया ज्ञान।
राम नाम जानै नहीं, सेवै आनहि आन ॥ १ ॥

दोष पराया देखिके, चलै हसन्त हसन्त।
आपन याद न आवई, जाको आदि न अन्त ॥ २ ॥

तिरनहुं कबहु न निन्दिये, पाँव तले है जोय।
कबहुँक उड़ि आंखिन परे, पीर घनेरी होय ॥ ३ ॥

आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानों किहि रूखतर, कूरा होय करंक ॥ ४ ॥

जिन लोगों ने देश कालादि तथा आत्मा का ज्ञान नहीं पाया है, वे लोग ऊन वेचारे (असमर्थ-दीन) की निन्दा करते हैं, और राम नाम को नहीं जानने से आन ही आन (अनात्मा) को सेवते हैं ॥ १ ॥ अन्य के दोष को देख कर हंसते २ चलते हैं, और अपना रागद्वेष मोहादि रूप दोष याद नहीं आता है कि जिसका आदि अन्त नहीं होने से अनादि अनन्त है ॥ २ ॥ वस्तुतः तृण की भी निन्दा नहीं करना चाहिये जो कि पाँव के नीचे है, क्योंकि वह भी यदि कभी उड़ कर आँखों में परे तो बहुत पीड़ा हो सकती है, अर्थात् अपने वशवर्ती दीन की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, निन्दा से प्रतिकूल होने पर वह भी बहुत हानि कर सकता है ॥ ३ ॥ आपन पौ (अपनी आत्मा-देहादि) को न सराहिये (प्रशंसिये नहीं) और अन्य को रंक (दरिद्र) कह कर अपमानिये नहीं, क्योंकि क्या जाना जाता है कि किस वृक्ष तर कूरा (धूलि) करंक (अस्थिपञ्जर) हो जायगा (कोमल कठिन बनेगा) अर्थात् वह दीन भी कर्माधीन कभी सुखी हो सकता है, हीन भी उत्तम होता है, और उत्तम हीन होता है ॥ ४ ॥

आपन को न सराहिये, पर निन्दिय नहिं कोय।
चढना लम्बा धौहरा, ना जानो क्या होय ॥ ५ ॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजे, और ठगे दुख होय ॥ ६ ॥

अपनी प्रशंसा और अन्य किसी की निन्दा नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी लम्बी धौहरा (उच्च स्थान) पर चढना बाकी है, उसे मालुम नहीं है कि अपनी क्या दशा होनी है ॥ ५ ॥ आप भले ही किसी से ठगाइये, परन्तु अन्य किसी को नहीं ठगिये, क्योंकि आप ठगाने से पाप के अभाव से सुख होता है, अन्य को ठगने से पापद्वारा दुःख होता है, उच्च स्थान नहीं मिलता है, ॥ ६ ॥

बूरा बूरा सब कहै, बुरा न दीसै कोय।
जो दिल खोजा आपनो, मों सो बुरा न कोय ॥ ७ ॥

निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार।
इक निन्दक के शीस पर, सौ [1]पापी का भार ॥ ८ ॥
निन्दक ते कुत्ता भला, हठ[2] करि माड़ै रारि।
कुत्ते से क्रोधी बुरा, गुरुहुँ दिलावै गारि ॥ ९ ॥

अन्य को सब बुरा २ कहते हैं, परन्तु आत्मादि दृष्टि से कोई बुरा नहीं दीखता है, और यदि मन में बुराई खोजा जाय, तो ममता युक्त अपने मन के समान कोई बुरा नहीं है ॥ ७ ॥ मन के बशवर्ती निन्दक एक भी नहीं मिले, और भूल से पाप करने वाले हजारों मिले तो हानि नहीं है, क्योंकि एक निन्दक के शिर पर सैकड़ों (अनन्तो) पापी का भार रहता है, अर्थात् अनन्त की निन्दा करके वह सबका पाप में से भाग लेता है ॥ ८ ॥ परोक्ष में निन्दा करनेवाला निन्दक से प्रत्यक्ष में हठ करके झगरा करने वाला कुत्ता भला है, और क्रोध वश होकर प्रत्यक्ष ही निन्दा करनेवाला क्रोधी भी कुत्ते से बुरा है, क्योंकि कुत्ता तो परस्पर

१ लख पापी। २ हट करि। पा० ॥

रार करता है और क्रोधी निन्दक माता पिता गुरु को गारि दिलाता और देता है ॥ ९ ॥

अडसठ तीरथ न्हाय कर, निन्दक गया जु जाय।
कहैं कबिर बांचै नहीं, निन्दक नरकहि जाय ॥१०॥
निन्दक न्हाय गहन कुरु खेत, अरपै नारि सिंगार समेत।
चौंसठ कूवा वाय दिखावै, तो भी निन्दक नरकहि जावै ॥११॥

आठ अधिक साठ तीर्थ में स्नान करके निन्दक मनुष्य गया भी जावे तो पाप यम बन्धन से नहीं बांचता है, इससे नरक में ही जाता है ॥ १० ॥ सूर्य ग्रहण काल में निन्दक यदि कुरुक्षेत्र में स्नान करके सिंगार सहित स्त्री का दान करे, और भरतकूप सदृश चौंसठ कूप तथा पुष्करादि तुल्य वाय (वापुरी-तालाब) को देखे (दर्शन करे करावे) या कूप बावरी बनाकर दान देवे दिलावे, तो भी निन्दक नरक ही में जाता है, अर्थात् निन्दाजन्य पाप प्रायश्चित से भी अनिवार्य है, क्योंकि यह अत्यन्त ज्ञात पाप है, अज्ञात के लिये प्रायश्चित्त करने से निवृत्ति होती है, सो याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

इति निन्दा का अंग ॥

———

अथ निर्वैरता दया का अंग ॥ ७६ ॥

दया भाव जानै नहीं, ज्ञान कथै बेहद्द।
ते नर नरक हि जाहिगें, सुनि सुनि साखी शब्द ॥ १ ॥
भावै जावो बद्रिका, भावै जाव गया।
कहैं कबीर सुनु साधो, सब ते बड़ी दया ॥ २ ॥

जाके दिल दाया नहीं, बहुरि कहावै साध।
कबिरा तिनके दरश ते, लागै बहु अपराध ॥ ३ ॥

कबिरा दरिया परजला, दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सो, दाझै रतन अमोल ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दया और भाव (आत्मसत्ता-आत्मप्रेम) को नहीं जानते, किन्तु मुख से बेहद (निःसीम) ज्ञान कथते हैं, सो साक्षी शब्दादि को सुन २ कर भी नरक ही में जायेंगे ॥ १ ॥ बद्रिका (बदरीनाथ) बहुरि (फिर भी) कबिरा (हे जीव) ॥ २-३ ॥ हे कबीरा ! संसार रूप दरिया दुःख क्रोध कालादि अग्नि से परजला (अत्यन्त ज्वलित) है, तहाँ जल थल के झोल (तुच्छ दीन हीन प्राणी) दाझे (जलाये) जाते हैं, परन्तु इतना ही नहीं किन्तु अमोल रत्न (सन्तभक्त जन धर्मात्मा) भी जलाये जाते हैं, और इस दाह के कारण गोपाल से किसी का कोई वश नहीं चलता है, इससे सब दया के पात्र हैं, और वैर अभिमान निन्दा करना उचित नहीं है ॥ ४ ॥

उनई आई बादरी, बरसन लगा अँगार।
उठी कबीरा धाह दै, दाझत हैं संसार ॥ ५ ॥

दाघ कलापी सब दुखी, सुखी न देखा कोय।
कोइ[1] निपुण कोइ बान्धवा, कोइ धन हीना होय ॥ ६ ॥

दाघ कलापी सब दुखी, सुखी न देखा कोय।
जहँ जहँ [2]भक्त गोपाल के, तहँ टुक धीरा होय ॥ ७ ॥

यद्यपि इस संसार में प्रथम स्त्री पुत्र धनादि में मोह ममता रूप बादरी (मेघ) उनई (नम) आई, जिससे प्रतीत हुआ कि सुख जल की वृष्टि होगी, परन्तु वह तो रागद्वेष दुःख शोकादि रूप अंगार (प्रदीप्ताग्नि)

१ पुत्र ॥ २ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ धीरज होय ॥

बरसने लगा, हे कबीरा (जीव) वह धाह (ताप) दे कर संसार को जलाता है, तुम दया करके जहां तक बच सको तहां तक ऊठ कर बचाओ ॥ ५ ॥ कलापी (स्त्रीपुत्रादि संघवाले) संगी सब ही संसार दाध (दाह-ताप) से दुखी हैं, किसी को सुखी नहीं देखा, चाहे कोइ निपुण, बन्धु युक्त, वा धन हीन हो तो इससे क्या ॥ ६ ॥ सब संगी दुःखी हैं, परन्तु जहाँ जहाँ गोपाल (सर्वरक्षक) प्रभु के भक्त हैं, तहाँ २ संगी लोग भी टुक (थोरा) धैर्य-युक्त सुखी होते हैं, इसलिये दया करके भी गोपाल की भक्ति करना कराना चाहिये ॥ ७ ॥

इति निर्वैरता दया का अंग ॥

अथ कुदाव का अंग ॥ ७७ ॥

बाग बिछूड़ा मिरगला, ताहि न मारो कोय।
आपे ही मरि जायगा, डाँवा डोला होय ॥ १ ॥

हम रोवै संसार को, हमे न रोवैं कोय।
हम को तो सोइ रोवै, नाम सनेही होय ॥ २ ॥

और बाग (अपने रहने का स्थान बगीचा) से (अथवा अपने सजाति के संघ रूप वर्ग से) बिछुड़ा हुआ मृग को तथा उसके समान अज्ञ मनुष्य को कोइ नहीं मारो (निन्दा आदि से दुखी नहीं करो, दया करके भी यदि तुम उसकी रक्षा नहीं कर सकोगे, तो वह आप ही डामाडोल होकर (भटक कर) मरेगा, मार कर तुम क्यों पापी बनते हो ॥ १ ॥ हम तो इस दुःखी संसार के लिये रोते हैं, परन्तु हमारे लिये कोई नहीं रोता है। हमारी बात कोई सुनता नहीं है) हमको वही रोवेगा, जो कि नाम भजन के प्रेमी होगा ॥ २ ॥

इति कुदाव का अंग ॥

अथ सुन्दरी का अंग ॥ ७८ ॥

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुनियो कन्त सुजान ।
वेगि मिलो तुम आय के, ना तो तजि हो प्रान ॥ १ ॥

सुन्दरि देइ सन्देशरा, सुनो हमारा पीव ।
जल बिनु मछली क्यों जीवै, पानी हूँ का जीव ॥ २ ॥

कबीर जो कोई सुन्दरी, जानि करै व्यभिचार ।
ताहि न कबहू आदरै, परम पुरुष भरतार ॥ ३ ॥

सुन्दरि तो साईं भजै, तजै आन की आस ।
ताहि न कबहू परिहरै, पलक न छाड़ै पास ॥ ४ ॥

सुन्दरी (सुन्दर बुद्धि-प्रेमी भक्त-विरहिणी स्त्री) आत्मदेवादि से प्रार्थना करती है ॥ १ ॥ जल बिनु मच्छी के समान आत्मादि के बिना बुद्धि आदि का नाश ही जानना चाहिये ॥ २ ॥ बुद्धि बल पाकर जो बुद्धि मत्ता के गर्व से अनर्थ करता है, सुन्दर परस्त्री को जान कर व्यभिचार करता है, भक्तों का अनादर करता है, उसका आदर परमात्मा नहीं करता है ॥ ३ ॥ सुन्दरी तो वही ठीक है, जो स्वामी को भजती है, और उस पति को कभी नहीं त्यागती है, न हृदय से पल भर पास छोड़ती है ॥ ४ ॥

मन मनसा को मारि के, नन्हा करि कैं पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी, पदम झलक्कै सीस ॥ ५ ॥

मैं मेरी जब जायगी, तब आवैगी और ।
जब यह निश्चल होयगी, तब पावै निज ठौर ॥ ६ ॥

चढ़ी अखारे सुन्दरी, मांडै पिय सो खेल ।
दीपक जोया ज्ञान का, काम जरै ज्यों तेल ॥ ७ ॥

कबीर सेरी सांकरी, माही चूरम चूर।
कारण वन्ती सुन्दरी, रहैं धका से दूर ॥ ८ ॥

मन और मनोरथ को मार कर जब तनु मनसा के अभ्यास से मन को सूक्ष्म कर पीसती है, तब सुन्दरी सुख पाती है और उस के शिर पर पद्मादि निधि झलकता है ॥ ५ ॥ मैं मेरी के जाने पर समात्म बुद्धि आयगी। और जब यह बुद्धि निश्चल होगी तब निज ठौर पाती है ॥ ६ ॥ अखाड़े (स्वधर्म) में चढ़कर (स्थिर होकर) तेल के समान ज्ञानाग्नि से काम नष्ट होता है ॥७॥ परन्तु इस ज्ञान की सेरी (मार्ग-सीढ़ी) सांकरी है, इससे इसमें चूरम चूर होना होता है, इससे लौकिक कारण (प्रयोजन) वाली सुन्दरी यहाँ के धका के भय से दूर ही रह जाती है ॥ ८ ॥

इति सुन्दरी का अंग ॥

अथ उपजन का अंग ॥ ७९ ॥

नाम न जानै गाम का, पीछे लागा जाय।
काल ही कांटा भांगसी, पहिले क्यों न खुजाय ॥ १ ॥

सीख भई संसार से, चले जो सांई पास।
अविनाशी मोहि ले चला, पुरई मेरी आस ॥ २ ॥

इन्द्र लोक अचरज भया, ब्रह्मा बड़ा विचार।
कबिरा चला राम पैं, कौतुकहार अपार ॥ ३ ॥

जो कोई गन्तव्य स्थान (राम) के नाम तक नहीं जानता है, और किसी के पीछे लग कर कर्मादि मार्ग में जाता है, उसे कल्ह (आगे) विपत्ति रूप कांटा भेदेगा, या काल ही कांटों से फाड़ेगा, इस लिये प्रथम से खोज क्यों नहीं करता है, (खुजाय के खुराय) पाठान्तर है ॥ १ ॥ यदि

प्रथम संसार के दोषों को देखने द्वारा संसार से ही शिक्षा भई (मिली) फिर विवेक करके यदि स्वामी के पास हम (जीव) चले, तो अविनाशी स्वामी भी मुझे ले चला, और मेरी आशाओं को पूर्ण किया, अन्यथा नहीं ॥ २ ॥ और यदि जीव राम के पास चला तो इन्द्र लोक में आश्चर्य प्रतीत होने लगा, ब्रह्मा भी भारी विचार में लग गये कि यह कैसी बात है, और अपार कौतिकहार (तमासा देखनहार) हो गये, अर्थात् यह सर्वत्र के लिये अपूर्व बात है ॥ ३ ॥

शरद पानि पाताल का, काढि कबीरा पीव।
बासी पावस पडि मुआ, विषय विलम्बा जीव ॥ ४ ॥

कबीर हरि का डरपंता, ताता अन्न न खाय।
हिरदा भीतर हरि बसै, दाझन ते डरपाय ॥ ५ ॥

गोविन्द केरे बहुत गुन, लिखा जु हिरदा माहि।
पानी पीऊँ न डरपता, मति वे धोया जाहि ॥ ६ ॥

हे कबीरा (जीव) पाताल (हृदय) का शरद (नवीन शीतल) पानी (आत्मानन्द) को काढ़ (प्रकट) करके पीओ। इसके बिना विषय में अँटका हुआ जीव बासी पावस (पुराना भोगरूप पानी) में पड़कर नष्ट हुआ (पावस के पावक) पाठान्तर है, उसका आचार व्यवहार अर्थ है ॥४॥ हरि से डर कर ताता (गर्भ दुःख ताप प्रद) विषय को त्यागो, अंतर्यामी की रुष्टता से डरो ॥ ५ ॥ ज्ञान विराग धर्म संतोषादि ये बहुत गुण वस्तुतः गोविंद की विभूति हैं, सो भी हृदयमें लिखे हैं, होने वाले हैं, इससे डरता हुआ विषयरूप पानी नहीं पीता हूं कि कहीं वे धोया न जायँ, अर्थात् सद्गुणों की प्राप्ति के लिये जैसे निषिद्ध विषयादि त्याज्य हैं, तैसे ही उनकी रक्षा के लिये भी त्याज्य हैं ॥ ६ ॥

अब तो मैं ऐसा भया, निरमोलिक निजनाम।
पहिले कांच कथीर था, फिरता ठामहि ठाम ॥ ७ ॥

भवसागर जल बिष भरा, मन नहिं बांधै धीर।
सकल सनेही हरि मिला, उतरा पार कबीर ॥ ८ ॥

भला सुहेला ऊतरा, पूरा मेरा भाग।
राम नाम बांका गहा, पानी पग नहिं लाग ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त धारना से अब मैं जीव ऐसा हो गया कि मूल्य रहित निजनाम (स्वस्वरूप हीरा) भया, और प्रथम तुच्छ कांच था, ठामे ठाम भटकता था, अचल हीरा होने से भटकना छूट गया ॥ ७ ॥ संसार सागर के विषय रूप जल में राग द्वेषादि रूप विष भरा है, इससे उस जल के पीने पर मन धैर्य नहीं बांधता (धरता) हैं, किन्तु व्याकुल रहता है, गुरु कृपा से जब जिसको सबके सनेही (प्रेमी) सब के प्रियतमात्मा रूप हरि मिला, तब वह संसार सागर से पार उतर गया ॥ ८ ॥ मैं भला समय संग में ऊतर गया, मेरा भाग्य पूर्ण है, वांका (सुन्दर) राम नाम को गहा कि जिससे पग (मन) में संसार के विषययुक्त पाना अब लगता ही नहीं है ॥ ९ ॥

सपना में सांईं मिला, सूता लिया जगाय।
आँखि न मीचौ डरपता, मत सपना ह्वै जाय ॥ १० ॥

हरिजी की दाया भई, संशय डाली खोय।
जो दिन गया भक्ति बिनू, सो दिन सालै मोय ॥ ११ ॥

कबीर याचन जाय था, आगे मिला अयाच।
आप सरीखा करि लिया, भारो पाया सांच ॥ १२ ॥

मेरा मन मूरख हता, करता बहुत बिगार।
सूधा ह्वै पैंडा चला, हरि आगे मैं लार ॥ १३ ॥

संसार स्वप्न में गुरु रूप से स्वामी मिला, अब मोह निन्द से सोये को जगाया, तब फिर विवेक दृष्टि को शिष्य नहीं मीचता (बन्द करता) है कि फिर संसार स्पप्न नहीं होवे ॥ १० ॥ हरिजी की दया हुई कि जिससे संशय

को नष्ट किया, परन्तु जो समय भक्ति विना गया सो अब भी मुझे सालता है ॥ ११ ॥ सुखसाधनादि को याचने के लिये जाता था, दैव योग से आगे अयाच (इच्छा रहित पूर्ण काम) सद्गुरु मिल गये, फिर अपने तुल्य कर लिये, तो भारी सत्य को पाया ॥ १२ ॥ जीव का मन प्रथम मूर्ख था सो वहुत विगार करता रहा, सद्गुरु के मिलने से सीधा होकर मार्ग में चला तो सर्वत्र हरि आगे दिखने लगे, और मैं हरि के लार (पास-साथ) में हो गया ॥ १३ ॥

इति उपजन का अंग ॥

अथ कस्तूरीमृग का अंग ॥ ८० ॥

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंड़ै बन माहिं।
ऐसे हरि घट घट बसै, मूरख जानत नाहिं ॥ १ ॥

देखै कोई सन्त जन, पांचों जाके हाथ।
पांचों जाके वश नहीं, ताके संग न साथ ॥ २ ॥

साधु कोई जानि हैं, पांचों राखी चूर।
जिनके पांचो मुक्त है, तिन से साहब दूर ॥ ३ ॥

सो साहब तन में बसै, मरम न जानै तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूंढ़ै घास ॥ ४ ॥

ज्यों नैनन में पूतली, त्यों खालिक घट माहिं।
मूरख नर जानै नहीं, बाहर ढूंढ़न जाहिं ॥ ५ ॥

कुण्डल (नाभि वलय), ऐसे घट घट ब्रह्म है, दुनिया जानै नाहिं यह पाठान्तर है ॥ १ ॥ पांचो (ज्ञानेन्द्रिय), हाथ (वश में), चूर (अधीन), मुक्त (खुले-अवश), खालिक (ईश्वर) ॥ २-५ ॥

कबीर खोजी रामका, गया जु सिंहल द्वीप।
साहब तो घटही बसै, जो आवै परतीत ॥ ६ ॥

[1]कबीर हरि दूरी नहीं, हरि हृदये भरपूर।
आप पिछानै बाहरी, नीरा ही ते दूर ॥ ७ ॥

कबीर बहुत भटकिया, मन ले विषय विराम।
ढूंढ़त ढंढ़त जग फिरा, तृन के ओटे राम ॥ ८ ॥

तृन के ओटे राम है, भावै परबत जाय।
सतगुरु मिलि परचा भया, तब पाया घट माय ॥ ९ ॥

[2]एक नाम तिहुं लोक में, सकल माहिं भरपूर।
जो जानै तो निकट है, अनजाने ते दूर ॥ १० ॥

कस्तूरी कुण्डल बसै, नाभि कमल हरि नाम।
नर ढूंढ़त पावत नहीं, गुरु बिनु ठामहि ठाम ॥ ११ ॥

बाहर राम को खोजने वाला सिंहल द्वीप में गया, परन्तु यदि प्रतीति (विश्वास) आवे तो साइब घट ही में बसता हुआ मिलता है ॥ ६ ॥ आप से बाहर पिछानता (समझता) है, इससे नियरे होते भी दूर होता है ॥ ७ ॥ मन विषय में विराम (आश्रय) ले कर बहुत भटका, तृण (विषय अज्ञान) ॥ ८-९ ॥ नाभि कमल शब्द ब्रह्म का स्थान है, गुरु बिना अनेक स्थान में खोजता हुआ नर समझता नहीं है । १०-११ ॥

तेरा सांईं तुझहि में, ज्यों फूलन में बास।
कस्तूरी के मिरग ज्यों, फिरि फिरि सूंघै घास ॥ १२ ॥

जा कारन जग ढूंढ़िया, सो तो घट ही माहिं।
परदा दिया भरम का, ताते सूझै नाहिं ॥ १३ ॥

---

१ मैं जानूं हरि दूर है। पा० ॥ २ घट बढ़ कहूँ न देखिये, ब्रह्म सकल भरपूर। पा० ॥

समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहब तुझहि में, अन्त कहूँ मत जाय ॥ १४ ॥

फूलों में गन्ध के समान तेरा स्वामी तुम ही में है, परन्तु कस्तुरी वाला मृग जैसे अज्ञान से बार २ घास सूंघता है, तैसे तुम हरि नामा राम को अन्यत्र ढूंढ़ते हो ॥ १२ ॥ जा कारण (जिसकी प्राप्ति के लिये) संसार में खोजा, सो घट ही में है, परन्तु भ्रम (अविद्या) का पड़दा दिया है, इससे दीखता नहीं है ॥ १३ ॥ यदि भ्रम को हटा कर मन उसको समझ लेवे, तो पलक के पड़दा लगा कर घर (देह हृदय) में ही स्थिर रहे, इसलिये समझो कि तेरा साहब तुझ में ही है, और ऐसा समझ कर अपने अन्दर साहब को खोजो अन्यत्र कहीं खोजने नहीं जाओ ॥ १४ ॥

इति कस्तूरीमृग का अंग ॥

अथ निगुन का अंग ॥ ८१ ॥

जानै हरिया रूखड़ा, पानी हूँ का नेह।
सूखा काठ न जानई, कितहू बूडा मेह ॥ १ ॥

झीमिर झीमिर बरषिया, पाहन ऊपर मेह।
माटी गली पानी भई, पाहन वाही नेह ॥ २ ॥

पार ब्रह्म बड़ मोतिया, घटा बांधि शिखराहिं।
सुगुरा सुगुरा चुनि लिया, चूक पड़ी निगुनाहि ॥ ३ ॥

कबीर हरि रस बरषिया, गिरि पर्वत शिखराय।
नीर निवानूं ठाहरा, ना वह छापर डाय ॥ ४ ॥

कबीरा मूढ कर्मिया, नख शिख पाखर आहिं।
बाहनहारा क्या करै, बान न लागै ताहि ॥ ५ ॥

रूखरा (वृक्ष), नेह (स्नेह-रस), मेह (मेघ के पानी) ॥ १ ॥ नेह (स्वभाव-क्रूरता) ॥ २ ॥ पारब्रह्म मेघ ने सद्गुरु सन्तरूप घटा (मेघ समूह) को बांध (संघ) करके, ज्ञान ध्यानरूप मोती के मानो शिखर ही वर्षाया, सुगुरा २ (सद्गुणवाले) सब चुन लिया, परन्तु शमादि गुण रहितों में चूक (भूल) पड़ी इससे नहीं पा सके ॥ ३ ॥ क्योंकि गुरु रूप हरि (इन्द्र) ने पर्वत के शिखर पर भी आनन्द रस की वर्षा किया, परन्तु वह जल नीवानूं (नम्र) में ठहरा, ऊपर ओडाय (टेकरे) तुल्य में नहीं ॥ ४ ॥ पाखर (लोह के झूल-मोह), बाहनहारा (बान चलाने वालागुरु), बान (उपदेश) ॥ ४–५ ॥

पशुवा सो पानो पड़ा, रह रह हृदया खीज।
ऊषर बोय न नीपजै, भावै केतौ सींच ॥ ६ ॥

जारौं येह बडापना, ऊँचो पेंड खजूर।
पक्षी छांह न पावई, फल लागै बड दूर ॥ ७ ॥

ऊंचा कुल के कारने, बांस बढ़ो हंकार।
एक नाम जान्यो नहीं, जारा सब परिवार ॥ ८ ॥

चन्दन केरे नीयरे, नीम भि चन्दन होय।
बूड्यो बाँस बडाइया, यों मति बूड़ो कोय ॥ ९ ॥

सतगुरु मिला तो क्या भया, जो मन भया कठोर।
नौ नेजा पानी चढ़ा, तऊ न भीजा कोर ॥ १० ॥

कबिर हृदय कठोर के, शब्द न लागै सार।
शुध बुधि के हृदये विधे, उपजै ज्ञान बिचार ॥ ११ ॥

पशुवा (निगुण) से पानो परा (संग हुआ) तो वह रह २ कर मन में क्रुद्ध होता है, और उसको उपदेश नहीं लगता है, जैसे कि ऊषर में बीज नहीं जमता है ॥ ६ ॥ खजूर तुल्य इस बडाई को नष्ट करो ॥ ७ ॥

बांस के तुल्य जिसको अहंकार बढ़ा वह एक राम नाम को नहीं जाना ॥ ८ ॥ बांस के समानः सद्गुण बिना कोई नष्ट नहीं होओ ॥ ९ ॥ नौ नेजा यौवन हाथ पानी चढने पर भी जैसे कठोर पत्थर के कोर तक नही भींजा, तैसे कठोर दिल वाले को सद्गुरु के मिलने से भी कुछ फल नहीं हुआ ॥ १०-११ ॥

परसै चन्दन बावना, विष नहि तजै भुवंग ।
ऊंचा लै गुन आपनो, कहा करै सतसंग ॥ १२ ॥

कबीर लहरी समुद्र की, मोती बिथरै आय ।
बगुला सार न जानई, हंसा चुगि चुगि खाय ॥ १३ ॥

हंसा बगुला एक रंग, एकै ताल चुगाहि ।
बक ढूंढै लै माछली, हंसा मोती खाहि ॥ १४ ॥

एक शब्द में सब कहा, गुरु शिष को समुझाय ।
समुझाये समुझै नहीं, फिर फिर पूछै आय ॥ १५ ॥

सर तो ताको मारिये, जो सर लायक होय ।
मारै सर पाषाण में, सर भी जाय बिगोय ॥ १६ ॥

बावन चन्दन के स्पर्श से भी सांप अपना विष नहीं छोडता, तैसे अपना ऊंचा गुण के अभिमान युक्त को सत्संग से कुछ नहीं होता ॥ १२॥ ब्रह्म समुद्र के लहरी सन्तजन सदुपदेश रूप मोती फैलाये हैं, परन्तु बगवृत्ति उसका तत्त्व को नहीं जानता है हंसवृत्ति जानता है ॥ १३ ॥ माछली (मायिक वस्तु), मोती (जीवन्मुक्ति ब्रह्मानन्द) ॥ १४ ॥ गुरुजीने एक शब्द (थोरे शब्द) में शिष्य को सब तत्त्व समुझाय कर कह दिया कि भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार, परन्तु निर्गुण जीव समझाने से नहीं समझता, बार २ आकर पूछता ही है ॥ १५ ॥ उपदेश रूप बान उसे मारना चाहिये जो उसके योग्य हो ॥ १६ ॥

सारा लश्कर ढूंढिया, सरदार न पाया।
गीदरिया को बाहि के, बेकाम बहाया ॥ १७ ॥

गुन कोई जानै नहीं, अवगुन सबै गहन्त।
निगुने नर की रीति है, कहैं कबीरा सन्त ॥ १८ ॥

गुन गाड़ै अवगुन खनै, कांधे कपट कुदार।
आजु काल्हु महँ देखियै, जात न लागै बार ॥ १९ ॥

कबीर गुनियां गुन करै, निगुनी गुन हि घिनाय।
वैलहि जायफल दीजै, सो क्या जाने खाय ॥ २० ॥

यदि सारा लश्कर में ढूंढने पर भी सरदार (सर सहने योग्य) को नहीं पाया, वीर नहीं मिला, तो गीदर तुल्य को बाण से मार कर बाण को बेकाम बहाया (बीगा) ॥ १६ ॥ यह निगुने नर की रीति, जीव से सन्त कहते हैं कि वह गुन को जानने के लिये यतन भी नहीं करता, और सब अवगुण को सब से मिल कर धरता है ॥ १७ ॥ कपट के कुदार लेकर गुण को छिपाता है, अवगुण को प्रकट करता है, परन्तु देखो कि ऐसे लोगों को आज काल्ह में ही जाते में बार भी नहीं लगता है ॥ १९ ॥ गुनिया (ज्ञानी भक्त सन्त) श्रवण मननादि अहिंसादि गुण का अभ्यास करते हैं, निगुनी (यमनियमादि रहित) सद्गुण दया दानादि से घृणा करते हैं ॥ २० ॥

इति निगुन का अंग ॥

अथ बिनती का अंग ॥ ८२ ॥

बिनवत हूँ कर जोरि के, सुनु गुरु कृपानिधान।
सन्तन[१] को सुख दीजिये, दया गरीबी ज्ञान ॥ १ ॥

---

१ साधु संगति सुख । पा० ॥

बन्दा भूलि बिगारिया, करि करि मैला चित्त ।
गरुआ साहब चाहिये, नफर बिगारै नित्त ॥ २ ॥

अवगुण किया तो बहु किया, करत न मानी हार ।
भावै बन्दा बकशिये, भावै गरदन मार ॥ ३ ॥

सांईं केरा बहुत गुन, अवगुन कोई नाहिं ।
जो दिल देखो आपनो, सब अवगुन मुझ माहिं ॥ ४ ॥

अवसर बीता अल्प तन, पीव रहा परदेश ।
कलंक उतारो रामजी, भानो भरम अँदेश ॥ ५ ॥

सुख (ब्रह्मानन्द-स्वर्ग), दया (दीनोद्धारण शक्ति) गरीबी, (नम्रता), ज्ञान (आत्मानुभव) सन्तों को दीजिये ॥ १ ॥ बन्दा (दास-भक्त), मैला (राग द्वेषादियुक्त), गरुआ (गंभीर-क्षमा शील), नफर (दास ॥ २ ॥ अवगुण करने में हार नहीं माना (संकोच नहीं किया), भावै (चाहे) बन्दा (दास) को बकशिये (उबारिये) चाहे गरदन काटिये ॥ ३ ॥ अल्प (सूक्ष्म-तुच्छ) शरीर में ही इसके पोषणादि करते में समय बीत गया, और सर्वात्मा पीव परदेश (देह से बाहर) रहा, देह में अनुभूत नहीं हुआ, यह अज्ञान कलंक उतारो, और भ्रम संशय को भानो (नष्ट करो) ॥ ५ ॥

कबिर करत है बीनती, भवसागर के माहिं ।
बन्दे पर जोरा हुवै, यम को बरजहु नाहिं ॥ ६ ॥

तेरे जोर न जुलुम है, मेरा होत अकाज ।
बिरद तुम्हारो लाजसी, शरण आय की लाज ॥ ७ ॥

मेरा मन ज्यों तुझ्झ सो, यों जो तेरा होय ।
अहरन ताती लोह ज्यों, संधि लखै नहिं कोय । ८ ॥

तुझ में अवगुन तुझहि गुन, तुझ गुन अवगुन मुझ्झ ।
जो मैं बिसरूं तुझ्झ को, तू मति बिसरें मुझ्झ ॥ ६ ॥

जोरा (बलात्कार-जुल्म), हुवै (होता हैं), और आप यम को वरजते (रोकते) नहीं हो ॥ ६ ॥ यद्यपि तुम असंग हो, इससे तेरे लिये जोर जुल्म नहीं है, परन्तु जीव का अकाज होता है, और तुम्हारा विरद (यश) भी लजाता है, जीव को भी तेरे शरण में आने की लाज है ॥ ७ ॥ जैसा शरणागत जीव का मन तेरे साथ है; तैसा ही यदि तेरा मन भी हो जाय, तो अहरन पर आये तप्त लोहों के समान जीवेश्वर में कोई सन्धि नहीं देख सके ॥ ८ ॥ तुझ में जगत् के संहारादि कर्तृत्व रूप अवगुन भी तुझ गुण ही है, परन्तु वह तेरा गुण मुझ में अवगुण है, और अल्पज्ञ होने से यदि मैं तुम को भूलूं भी तो सर्वज्ञ तुम मुझे नहीं भूलो । (मुझ में अवगुन, तुझहि गुन) पाठान्तर है ॥ ९ ॥

[1]तुझे बिसारे क्यों बनै, मैं किस शरणे जाउँ ।
शिव विरञ्चि मूनि नारदा, इनके हिय न समाउँ ॥ १० ॥

नैन हमारे बावरे, छन छन लोटैं तुझ्झ ।
ना तूं मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुझ्झ ॥ ११ ॥

मैं अपराधी जन्म का, नख सिख भरा विकार ।
दया करो तुम सांइयाँ, तौं हम उतरैं पार ॥ १२ ॥

सावधान भोर सांइयाँ, मैं ही भया अचेत ।
मन वच करम न हरि भजा, ताते निष्फल खेत ॥ १३ ॥

तुझे मेरे को बिसरने पर, मेरा काम कैसे बन सकता है, तेरे बिना मैं किस के शरण में जाऊं, शिवादि के हृदय में तो मैं समाता ही नहीं हूँ ॥ १० ॥ और मेरा नैन बावरा बन कर छन २ में तेरे लिये लोटता

---

१ सतगुरु तोहि बिसारि के । पा० ।

है, इससे जब तक तुम नहीं मिलते हो, तब तक मैं सुखी खुशी नहीं हूँ, इस प्रकार की मुझे वेदना है ॥ ११ ॥ अनन्त जन्म का अपराधी जीव है, और इस में कामादि विकार भरे हैं ॥ १२ ॥ सावधान (भूल अज्ञानादि रहित), खेत (मानव देह) ॥ १३ ॥

ना प्रतीति न प्रेम रस, ना कोइ तन में ढंग ।
ना जानों उस पीव सो, क्यों कर रहसी रंग ॥ १४ ॥
अन्तर्यामी एक तूं, आतम के आधार ।
जो तुम छाड़ौ हाथ सो, कौन निबाहनहार ॥ १५ ॥

प्रतीत (विश्वास-विवेक), ढंग (सेवा-सत्कारादि करने का कौशल), यह नहीं समझ में आता कि इस अवस्था में उस सर्वात्मा स्वामी से रंग (राग-प्रेम) कैसे रहेगा ॥ १४ ॥ आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पिताः । बृ० २ । ५ । १५ । इत्यादि वचन के अनुसार अन्तर्यामी एक है, सो सब भूत इन्द्रिय विषय प्राण और मन का आधार है, सो आत्मा (मन) के आधार तुम यदि हाथ से छोड दो (पालन नहीं करो) तो निबाहनेवाला अन्य कौन है ॥ १५ ॥ (कौन उतारै पार) पाठान्तर है ।

इति विनती का अंग ॥

अथ बेली का अंग ॥ ८३ ॥

कबीर कडुई बेलरी, कडुवा ही फल होय ।
सिद्ध नाम तब पाइये, बेलि विछोहा होय ॥ १ ॥

सिद्ध[1] भया तो क्या भया, चहुँ दिश फूटी बास।
औरो बीज अंकूर में, फिर ऊगन की आश ॥ २ ॥

जो ऊगै तो ब्रह्म में, अन्ते कहूं न जाय।
हरि रस सींचे बेलरी, कवहुँ न निष्फल जाय ॥ ३ ॥

अविद्या माया (कपटादि) युक्त बुद्धि रूप बेलरी (लता) कडुई है, और उसके कामादि जन्ममरणादि रूप कडुवा ही फल होते हैं, ऐसी बेली (कुबुद्धि) जब बिछोहा (वियोग) हो, तब सिद्ध (साधु-मुक्त) नाम पाया जाता है ॥ १ ॥ कोई बेली से वियोग बिना ही अणिमादि दूर दर्शनादि सिद्धि से सिद्ध भया (कहाया) तो उससे क्या भया, क्योंकि दुर्बुद्धि के रहते चारो तरफ बास (वासना) फूटी (फैली) कि जिससे अंकुर (देहवृक्ष) में और भी बीज (काम कर्मादि) हुये, और फिर भी ऊगने (जन्मने) की आशा रह गई ॥ २ ॥ यदि उस बेली को सदा हरि रस (प्रेम) से सींचा जाय, तो वह ऊगे भी तो ब्रह्म में उगे (जन्मे) और अन्यत्र कहीं नहीं जाय, तो ऐसी बेलरी कभी निष्फल (सत्फल रहित) नहीं जाती है, ॥ ३ ॥

सिद्धी सहज हि खड़ि परी, अग्नि जु लागो माँहि।
सिद्धि बेलि दोऊ जली, अब फिरि ऊगै नाहि ॥ ४ ॥

जारन आनी लाकडी, ऊठी कोपल मेलि।
अब तो ऐसी ह्वै पडी, ना तुमरी ना बेलि ॥ ५ ॥

आगे आगे दव बरै, पीछे हरियर होय।
बलिहारी ता वृक्ष की, जड़ काटै फल होय ॥ ६ ॥

---

१ सिद्ध भई तो क्या भया, फिरि न वासना नेह।
जन्म लेत संसार में, फिरि फिरि धारै देह ॥ १ ॥

हरि रस सींच कर बुद्धि को ब्रह्म में लगाने पर सिद्धि होती है, तो भी वह सहज ही खड़ी परी रहती है, कामवासनादि बीजों को पैदा नहीं करती हैं, इससे सुखी लकरी तुल्य उसमें और बुद्धि में जो आत्मज्ञानाग्नि लगती है, उससे सिद्धि और बुद्धि बेली दोनों जल जाती है, अब फिर जन्मती नहीं है ॥ ४ ॥ भक्तों ने तो मानो देह रूप लकड़ी को जलाने के ही लिये आनी है, जिसके मेल से ज्ञानाग्नि की कोपल (नवीन शिखा) ऊठी है, इससे अब तो ऐसी बात हो पड़ी कि कामादि रूप तुमरी और बुद्धिरूप बेली भी नहीं रह गई । या जारने (भोगने) के लिये सुखी लकड़ी तुल्य विषयों को लाने पर उसके परस्पर के मेल से मानो वासनादि कोंपर (कोमल बृक्ष) उठी, परन्तु अब (ज्ञान होने पर) कुछ नहीं रहा ॥ ५ ॥ क्योंकि ज्ञान रूप दव (वनाग्नि) आगे २ जहाँ बरता है, तहाँ २ पीछे हरियर (आत्मानन्द) होता है, इससे तिस देह ससाररूप वृक्ष बुद्धि बेलि की बलिहारी है कि जिसके अविद्या रूप जर काटने पर सच्चा फल सुख मोक्ष होता है ॥ ६ ॥

जो काटे तो डहडही, सींचे तो कुम्हिलाय।
इस गुणवन्ती बेलि का, कछु गुन कहा न जाय ॥ ७ ॥
आंगन बेलि अकाश फल, अनव्याही का दूध ।
शशा सींग के धनुष करि, खेलै बांझ का पूत ॥ ८ ॥

इस बेली को जो काटे तो डहडही (लहलही-आनन्दोत्साह) होती है, इसे विषयों द्वारा सींचने से कुम्हिलाती (मलिन होती) है, इससे इस त्रिगुणयुक्त बेलि का गुण (स्वभावादि) कुछ कहा नहीं जाता है ॥ ७ ॥ आंगन (हृदय) में यह अविद्या बेली है, और उसका फल चिदाकाश (ब्रह्म) में है, सो अनव्याही (असंगात्मा के असंगिनी) का दूध (वृत्ति-परिणाम) रूप है, और उसी मिथ्या फल के लिये शशा सींग तुल्य (शास्त्र

शब्द जाल) के धनुष करके सत्य पुत्र रहित बन्ध्या माया के कल्पित पुत्र (मन) खेलता (कर्मादि करता) है ॥ ८ ॥

इति बेलि का अंग ।

अथ बेहद का अंग ॥ ८४ ॥

हद छाड़ी बेहद गया, अबरन किया मिलान ।
दास कबीरा [1]रमि रहा, सो कहिये रहिमान ॥ १ ॥
बेहद विचारो हद तजु हद तजि मेलो [2]तास ।
सबे अलिगन मेटि के, करो निरन्तर बास ॥ २ ॥
अन्तर[3] वासी निर्मला, सुन्न थूल सो न्यार ।
पूर्व[4] पछिम बहुरावई, पेखै बहु उजियार ॥ ३ ॥

जो जीव हद (वर्णाश्रम की मर्यादा-बन्धन-और एक देशी पदार्थ) को छोड़ कर बेहद (निर्गुण विभु स्वरूप स्वतन्त्र परमहंस भाव) में गया, और अवरण (निर्गुण-निराकार बेहद) से अपना मिलान (ऐक्य संबन्ध) किया । इस प्रकार जो दास जीव उसमें रम रहा है, सो रहिमन (दयालु) कहाता हैं ॥ १ ॥ इसलिये हद को त्यागो और बेहद को विचारो फिर हद को त्याग कर उसे बेहद में मेलो (लय चिन्तन करो), फिर सब आलिंगन (गति-आसक्ति-आश्रय) को मेट कर निरन्तर (व्यवधान रहित) बेहद में वास करो ॥ २ ॥ इस प्रकार अन्तरात्मा में बसनेवाला शून्य (तुच्छ मिथ्या) अविद्यादि और स्थूल से न्यारा होता है, और पूर्व (आगे) जाते हुए प्राण मन को पीछे (अन्दर) लौटाता है जिससे बहुत प्रकाश देखता है, ॥ ३ ॥

बेहद अगाधी [5]पीव है, ये सब हद के जीव ।
जो नर राते हद्द सो, कभी न पावै पीव ॥ ४ ॥

---

१ मिलि । २ आस । ३ निरन्तर । ४ गंग पुरब पच्छिम बहै । पा० ॥ ५ नाम । पा० ॥

हद में [1]पीव न पाइये, बेहद में भरपूर।
हद बेहद की गम लखै, तासो [1]पीव हजूर ॥ ५ ॥

हद बांधा [2]बेहद्द में, पल पल पेखै नूर।
मनुवाँ [3]तहँ लै राखिया, बाजै अनहद तूर ॥ ६ ॥

बेहद पीव (परतत्त्व) में अगाध बुद्धिवाला जीव है, और ये साधारण बुद्धिवाले जीव सब हद के निवासी हैं, और जो मनुष्य हद्द से राता (प्रेम किया) है, सो कभी बेहद पीव को नहीं पाता है । ४ ॥ हद में पीव को नहीं पाया जाता है, और बेहद (परमहंस निरभिमानिता दशा स्वस्वरूप) में पीव भरपूर पाया जाता है, इससे जो हद और बेहद दोनों के गम (मार्ग गति को जानता है, और हद मार्ग को त्याग कर बेहद मार्ग से चलता है, उसको पीव सदा प्रत्यक्ष उपस्थित रहता है ॥ ५ ॥ क्योंकि हद भी बेहद में हा बांधा है (बेहद के आश्रित है) और बेहद का ही नूर (प्रकाश) हद में भी वह पल २ में देखता है, इससे उस नूर में वह मन को लेकर रखता है, जहां अनहद बाजा बाजता है ॥ ६ ॥

[4]हद माही हदका घना, लीया जीव तुराय।
[5]विगसि विगसि बेहद गया, मरै न आवै जाय ॥ ७ ॥

सुरति समानी निरति में, अजपा में है जाप।
लेख समान अलेख में, यों आपा महँ आप ॥ ८ ॥

हद छाडी बेहद गया, सुन्न किया अस्थान।
मुनि जन [6]महल न पावहीं, तहाँ लिया विश्राम ॥ ९ ॥

हद (देहादि के अभिमान) में हदका (घबराहट-भय) घना (बहुत) है, सो जीव को तुराय लिया है (त्वरायुक्त चंचल अशान्त किया

---

१ नाम । २ बेहद रमे । पा. बेहद म बाँधा हद रमता है ॥ ३ तहाँ लगाइये । पा. । ४ दह । ५ रिगसि । ६ जान ॥

है) सत्य स्वरूप से पृथक किया है। जो जीव विगसि (विकास युक्त ज्ञानी) हो २ कर बेहद में गया, सो फिर न मरता है, न कहीं आता जाता है ॥ ७ ॥ उसकी सुरति (ध्यान) निरति (परप्रेम) में समा गई, जाप अजपा में ही स्थिर है, लेख (दृश्य) मन आदि अलेख (अदृश्य) आत्मा में समा गया, इस प्रकार अपने स्वरूप में आप लीन हुआ ॥ ८ ॥ जो जीव हद को त्याग कर बेहद में गया, सहज शून्य का अपना स्थान किया, वह जीव, शास्त्र के मननादि करने वाले मुनि लोग जिस महल को नहीं पाते हैं, तहां विभु स्वरूप में विश्राम लिया (स्थिति आनन्द पाया) ॥ ९ ॥

हद छाडी बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय ॥ १० ॥

ऊंच चढै असमान महँ, मेरु उलंघी ऊडि।
पसु पखेरु जिव जन्तु सब, रहै मेरु महं बूडि ॥ ११ ॥

जीव विलम्बा पीव महं, पीव जु लिया मिलाय।
लेखा पडा अलेख में, अब कछु कहा न जाय ॥ १२ ॥

हद को छोड़ कर जो बेहद में गया, सो जीव निरन्तर (व्यवधान रहित-अखंड स्वरूप हो रहा, और उस बेहद के मैदान (विस्तृत स्थान) में वह समाधि निन्द से सो रहा ॥ १० ॥ जो मेरु दण्ड का उलंघन करके, और संसार से ऊड़ कर चलता है, अर्थात् सुमेरु पर स्वर्ग सुखादि की इच्छा भावनादि से रहित होता है, सो ऊंच असमान (स्वस्वरूप) में चढता (पहुँचता) है, और अन्य पशु पक्षी तुल्य जीव जन्तु सब ही, मेरु में ही बूडे रहते हैं, आसक्त होते हैं ॥ ११ ॥ जो जीव पीव में विलम्बा (भक्ति ज्ञानादि से स्थिर हुआ) और पीव भी उसे अपने में मिला लिया,

तो लेख (दृश्य) देहादि अलेख (सूक्ष्म प्रकृति) में पड़ा (लीन हुआ) अब कुछ कहा नहीं जा सकता है ।। १२ ।।

हद छाडी बेहद गया, तासों राम हजूर।
पार ब्रह्म परिचय भया, अब नियरे तब दूर ।। १३ ।।

मैं मेटी मुक्ता भया, आपा ब्रह्मविलास।
अब मेरे दूजा नहीं, एक तुम्हारी आस ।। १४ ।।

हद में बैठा कथत है, बेहद की गम नाहिं।
बेहद की गम होयगी, तब कछु कथना नाहिं ।। १५ ।।

जो जीव हद (देहादि) के अभिमान को छोड कर बेहद (विभु) के विचारादि में गया, उससे सर्वात्मा राम सदा हजूर हैं, और पार ब्रह्म का परिचय (ज्ञान) हुआ, तो वह ब्रह्म अब पास में हो गया, और प्रथम मानो दूर था ।। १३ ।। देहादि में मैं बुद्धि और धनादि में आपा (ममता) तथा ब्रह्म (प्रकृति युक्त ब्रह्म) का विलास (कार्य-सब जगत्) को मेट कर (त्याग कर मिथ्या जान कर) जब मैं (जीव) मुक्त हुवा, तो अब मेरे लिये दुजा कोई पदार्थ सत्य नहीं रहा, केवल एक तुम्हारी (सर्वात्मा राम की) ही आशा है, या मैं को मेट कर मुक्त हुआ तो अपने को ब्रह्म का विलास (लीला) जाना और जगत को भी लीला मात्र जाना ।। १४ । हद में बैठा मनुष्य सांसारिक कथा करता है कि जिसको बेहद की गम (गति) नहीं है, जब बेहद की यात्रा होगी तब कुछ कहना नहीं रहेगा ।। १५ ।।

कबीर[1] जीव जो हद के, तिन से मुखा न बोल।
जब [2]मोलैं बेहद का, तिन सो [3]पडदा खोल ।। १६ ।।

---

१ कबीर हद के जीव सो, हित करि मुखे न बोल ।। २ राचे ।। पा० ३ अन्तर ।। पा० ।।

हदिया सेती हद रहो, बेहदिया बेहद्द।
जो जैसा जहं रोगिया, तहं तैसी औषद्द ॥ १७ ॥

हद रहैं सो मानवा, बेहद रह सो साध।
हद बेहद दोनों तजै, ताका मता अगाध ॥ १८ ॥

जो जीव हद के अधिकारी खोजी हैं, उनसे मुख्य बेहद की बात नहीं बोलो, जब बेहद का अधिकारी जिज्ञासु मिलै, तो तिन से पड़दा खोल कर मुख्य सत्यात्मा की बात बोलो, उनके अज्ञानादि रूप पड़दा को खोल दो ॥ १६ ॥ हदिया (हद के खोजी) के साथ हद के बात व्यवहार युक्त रहो, और बेहदियों के साथ बेहद ही रहो; क्योंकि जो जैसा रोगी होता है, उसके लिये तैसी ही औषध की आवश्यकता होती है ॥ १७ ॥ वर्णाश्रमादि के हद में विवेक विचारादि सहित धर्मयुक्त रहनेवाला साधारण मनुष्य है, बेहद (वर्णादि के अभिमान रहित) विवेकी साधु है, हद बेहद दोनों को त्यागने वाला ग्रहण त्याग के अभिमान से रहित आत्मनिष्ठ परमहंस की मता अगाध है ॥ १८ ॥

इति बेहद का अंग ॥

इति चोरासी अंग का साखी ग्रन्थ समाप्त ॥

प्राचीन लेख से अधिक प्राप्त अंग ॥

अथ सेवक का अंग ॥ १ ॥

सेवक सेवा में रहै, अन्त कहूँ नहिं जाय।
दुख सुख शिर ऊपर सहै, कहैं कबिर समुझाय ॥ १ ॥

सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय।
कहैं कबिर सेवा विना, सेवक कभी न होंय ॥ २ ॥

सेवक मुखै कहावई, सेवा में दृढ नाहि।
कहैं कबिर सो सेवका, लख चौरासी मांहि ॥ ३ ॥

सेवक सेवा में रहै, सेव करै दिन रात।
कहैं कबीर कुसेवका, सनमुख ना ठहरात ॥ ४ ॥

सेवक[1] फल मांगैं नहीं, सेव करै दिनरात।
कहैं कबिर ता दास पर, काल करै नहीं घात ॥ ५ ॥

अन्त (अन्यत्र), शिर ऊपर सहै (शिरोधार्य करे), मुखै (मुख से), सेव (सेवा), सन्मुख (स्वामी के सामने), घात (चोट-घावा) ॥ १-५ ॥

सेवक स्वामी एक मत, मत में मत मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥ ६ ॥

सेवक कुत्ता राम का, मुतिया वाका नांव।
डोरी लागी प्रेम की, जित खैंचे तित जांव ॥ ७ ॥

तू तू करै त निकट ह्वै, दुर दुर करै त जाय।
ज्यों गुरु राखै त्यों रहै, जो देवै सो खाय ॥ ८ ॥

---

१ राम धनी याचे नहीं । पा० ॥

फल कारन सेवा करै, निशदिन यांचै राम।
कहैं कबिर सेवक नही, चाहै चौगुन दाम ॥ ९ ॥

सब कछु गुरु के पास है, पाइये अपने भाग।
सेवक मन सौंप्या रहै, रहै चरन में लाग ॥ १० ॥

मत (सिद्धान्त-मति-मन), स्वामी सेवक एक (श्रेष्ठ-भेद कपट रहित) होना चाहिये। क्योंकि सर्वात्मा स्वामी चतुराई से नहीं प्रसन्न होता है, किन्तु मन की सद्भावना से प्रसन्न होता है ॥ ६ ॥ सद्भावना वाला सेवक राम का कुत्ता (निरभिमानी) होता है इसी से उसका नाम मोतिया (उज्जवल) है, और उसके गले (मन) में प्रेम की रस्सी लगी है, राम जिधर खीचता है, उधर हर्ष से जाता है ॥ ७ ॥ प्रारब्धानुसार आदर निरादर भोगादि जो मिलता है, उसमें प्रसन्न रहता है ॥ ८ ॥ फल कारण (फल के लिये), दाम (पैसा-नौकरी) ॥ ९ ॥ मनको सौंपे (अर्पे) रहे, और देह से चरण के आश्रित रहे ॥ १० ॥

सतगुरु शब्द उलंघि कर, जो सेवक कहुँ जाय।
जहां जाय तहँ काल है, कहैं कबिर समुझाय ॥ ११ ॥

सतगुरु बरजै सिष करै, क्यों करि बाचै काल।
दहुँ दिशि देखत बहि गया, पानी फूटी पाल ॥ १२ ॥

सतगुरु कहि जो शिष करै, सब कारज सिद्ध होय।
अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय ॥ १३ ॥

साहब को भावै नहीं, सो हम सो जनि होय।
सतगुरु लाजै आपना, साधु न मानै कोय ॥ १४ ॥

साहब जासो ना रुचै, सो हम सो जनि होय।
गुरु की आज्ञा में रहूं, बल बुधि आपा खोय ॥ १५ ॥

साहब के दरबार में, कमा काहु की नाहिं ।
बन्दा मौज न पावही, चूक चाकरी माहि ॥ १६ ॥

शब्द को उलंघि कर (नहीं मान कर) ॥ ११ ॥ जिस कार्य के लिये सतगुरु बरजै (मना करैं-रोकै) सोई कार्य यदि शिष्य करै, तो काल से किस प्रकार बांचै, वह देखते २ में चार खानि में बह गया कि जैसे पाल (बांध) फूटने से पानी बहता है ॥ १२ ॥ गुरु आज्ञाकारी के सब काम तथा मोक्ष होता है, क्योंकि किसी भक्त को काल नहीं देखता है ॥ १३ ॥ इसलिये जो साहब न भावै, सो शिष्य से नहीं होना चाहिये, क्योंकि उससे अपना सतगुरु लजाते हैं, और सन्त भी भला नहीं मानते हैं ॥ १४ ॥ साहब जिस कर्म से प्रसन्न न होयं, सो शिष्य से नहीं होना चाहिये, और राजस तामस बल बुद्धि को तथा ममता को खो कर गुरु की आज्ञा मे रहना चाहिये ॥ १५ ॥ क्योंकि साहब के दरबार में किसी भी पदार्थ की कमी नहीं है, परन्तु चाकरी (भक्ति) में चूक से बन्दा (दास) मौज (सुख) नहीं पाता है ॥ १६ ॥

द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय ।
कबहुक धनी निंवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय ॥ १७ ॥

आस करै बंकुंठ की, दुर्मति तीनौं काल ।
शुक्र कही बलि ना करी, ताते गयो पताल ॥ १८ ॥

गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल ।
लोक वेद दोनों गये, आगे शिर पर काल ॥ १९ ॥

गुरु आज्ञा के अनुसार धनी (साहब) के द्वार (भक्ति मार्ग) में पड़ रहे, और धनी का धका (ताड़ना) सहै, और दर (स्थान) को छोड़ कर कहीं नहीं जाय, तो धनी कभी अवश्य रक्षा करेगा ॥ १७ ॥ परन्तु जो दुर्मति त्रिकाल संध्या के समय वैकुंठ की आशा करता है, परन्तु गुरु

की आज्ञा नहीं मानता है, उसको राजा बली की दशा होती है, वैकुंठ के बदले पाताल में जाता है ॥ १८ ॥ गुरु की आज्ञा नहीं मान कर विरुद्ध चाल चलने वाला लोक सुख सुयश से और वेद बोधित परलोक सुख मोक्ष से वञ्चित रहता है, और काल आगे आगे शिर पर तैयार रहता है ॥ १९ ॥

भुक्ति मुक्ति मांगौ नहीं, भक्ति दान दे मोहि।
औंर कोइ यांचौं नहीं, निशदिन यांचौ तोहि ॥ २० ॥

यह मन ताको दीजिये, सांचा सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा [1]होय ॥ २१ ॥

शीलवन्त सुर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लजावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ २२ ॥

चतुर विवेकी धीर मत, छमावान बुधिमान।
आज्ञावान पर मत लिया, मुदित प्रफुल्लित जान ॥ २३ ॥

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू सो हेत।
सत्यवान परमारथी, आदर भाव सहेत ॥ २४ ॥

षट दरशन को प्रेम करि, असन बसन सो पोष।
सेव करै हरिजनन की, हरषित पर संतोष ॥ २५ ॥

आज्ञाकारी सेवक की भावना होनी चाहिये कि मुझे भोगादि नहीं चाहिये, किंतु भक्ति चाहिये, सो भी सदा प्रभु से ही मिलने वाली है ॥ २० ॥ और प्रभु के लिये भी उचित है कि ऐसा मन उस को अवश्य दें, जो कि सांचा सेवक हो, अर्थात् सांचा सेवक को इच्छारहित वशीभूत मन दें, जो कि शिर पर आरा सहें, तो भी भेदभाव नहीं करे । २१ ॥ सुर ज्ञान मत (दैवी सम्पत्ति युक्त ज्ञान जिसको सम्मत) हो ॥ २२ ॥ धीर

[1] जोय । पा० ॥

मत (धैर्य युक्त मति वाला), आज्ञावान (गुरु की आज्ञा को मानने वाला), परमत (उत्तम मत), लिया (धारण किया) हो, मुदित (आनन्द युक्त), विकसित जान (ज्ञान) हो ॥ २३ ॥ हेत (प्रेम), परमारथी (परोपकारी) हो, और सहेत (प्रेम सहित) दूसरे का आदर सत्कार करे ॥ २४ ॥ योगी आदि छौ दर्शन को भोजन वस्त्र से पालन करे, तथा हरिजनों की सेवा हर्ष और उत्तम संतोष युक्त होकर करे ॥ २५ ॥

यह सब लक्षण चित धरैं, अपलक्षण सब त्याग।
सावधान सम ध्यान हैं, गुरु चरणन में लाग ॥ २६ ॥

सुरति सुहागिन सोइ सहि, जो गुरु आज्ञा माहि।
गुरु आज्ञा जो मेट ही, तासु कुशल ह्वै नाहिं ॥ २७ ॥

गुरु आज्ञा ले आवई, गुरु आज्ञा ले जाय।
कहै कबिर सो सन्त प्रिय, बहुविधि अमृत पाय ॥ २८ ॥

कबीर गुरु औ साधु को, सीस नमावै जाय।
कहैं कबिर सो सेवका, महा परम पद पाय । २९ ॥

अपलक्षण (दुर्गुण), यही सावधानी और समता युक्त ध्यान है, जो गुरु चरणों में लगा है ॥ २६ ॥ वही सुरति वही सुहागिन (भाग्यवती) है, जो गुरु आज्ञा में है ॥ २७ ॥ सन्त का प्यारा वह जीव बहुत प्रकार के अमृत पाता है ॥ २८ ॥ महा परम पद (मोक्ष) ॥ २९ ॥

गुरु समरथ शिर पर खड़े, कहा कमि तोहि दास।
ऋद्धिसिद्धि सेवा करै, मुक्ति न छाड़ै पास ॥ ३० ॥

दुख सुख शिर ऊपर सहै, कबहु न छाड़ै संग।
रंग न लागै और का, व्यापै सतगुरु रंग ॥ ३१ ॥

धूमधाम सहता रहै, कबहु न छाडै संग।
पाहा बिनु लागै नहीं, कपडा के बहु रंग ॥ ३२ ॥

कवीर गुरु सब को चहै गुरु को चहै न कोय ।
जब लग आश शरीर की, तबलग दास न होय ॥ ३३ ॥

क्योंकि समर्थ (स्वामी) गुरु जिसके शिरोधार्य है, तिस तुझ दास को कमी क्या है ॥ ३० ॥ इसलिये प्रारब्धानुसार प्राप्त सुख दुख को भी शिरोधार्य करे. और समर्थ गुरु का संग कभी नहीं छोड़े, क्योंकि जो सद्गुरु के रंग से व्याप्त रहता है, उसमें अन्य रंग नहीं लगता है ॥ ३१ ॥ धूम घाम (उत्सवादि के क्षोभ) को भी सहता रहे, परन्तु कभी संग नहीं छोड़े, क्योंकि जैसे पाहा (पाक विशेष) बिना कपड़ा के बहुत रग नहीं लगता है, तैसे सहने बिना भक्ति का रंग नहीं लगता है ॥ ३२ ॥ गुरु सब के हित चाहते हैं, परन्तु दास हो कर कोई गुरु को नहीं चाहता है, क्योंकि जब तक शरीर की आशा है, तब तक दास नहीं होने पाता है ॥ ३३ ॥

कबीर गुरु के भावते, दूरहि ते दीसन्त ।
तन छीना मन अनमना, जग ते रूठि फिरन्त ॥ ३४ ॥

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोय ।
कै जागै विषया भरा, दास बन्दगी जोय ॥ ३५ ॥

निरबन्धन बन्धा रहै, वन्धा निरबन्ध होय ।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय ॥ ३६ ॥

दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास ।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटै पियास ॥ ३७ ॥

दासातन हिरदै बसै, साधुन सो आधीन ।
कहैं कबिर सो दास है, प्रेम भक्ति लौलीन ॥ ३८ ॥

गुरु के भावते (प्रिय-भक्त) दूर से ही दीखते हैं, कि उनका तन दुबला और मन उपराम रहता है, तथा जगत से रूठि (स्नेह रहित) होकर

फिरते है ॥ ३४ ॥ खालिक (ईश्वर) जागा हैं, और कोई नहीं जागता है, अथवा प्रथम विषय से व्याप्त हुआ और सब बन्दगी (भक्ति) को जोहने (खोजने) वाला दास भी जागता है ॥ ३५ ॥ वह भक्त बन्धन बिना भी भक्ति की मर्यादा में बन्धा रहता है, और देहादि बन्धन रहते भी अभिमान रहित होने से निरबन्ध रहता है, इसी से कर्म करने पर कतृत्व का अभिमानी नहीं होता, सोई वस्तुतः दास कहाता है ॥ ३६ ॥ दास.तन (भक्ति का भाव), आधीन (नम्र ', लौलीन (मग्न) ॥ ३७–३८ ॥

दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अन्त तिहुँ काल।
पलक एक में प्रगट ह्वै, छिन में करैं निहाल। ३९ ॥

निष्कामी निर्मल दशा, नित चरणों की आश।
तीरथ इच्छा ता करै, कब आवै सो दास ॥ ४० ॥

दास के दुःखी होने पर हरि मानो दुःखी होकर एक छन में प्रकट होकर आदि अन्त मध्य तीनों काल में छन भर में दुखी भक्त को निहाल (दुःख से मुक्त) करते हैं ॥ ३६ ॥ जो महात्मा निष्काम निर्मल दशा युक्त सदा रहते हैं, और जिनको हरिचरण की ही सदा आशा रहती है, उन की इच्छा तीर्थ सब भी करते हैं, कि वह दास मेरे पास कब आवेंगे ॥ ४० ॥

काजर केरी कोठरी, ऐसा यह संसार।
बलिहारी वा दास की, पैठि जु निकसनहार ॥ ४१ ॥

काजर केरी कोठरी, काजर ही का कोट।
बलिहारी वा दास की, रहै नाम की ओट ॥ ४२ ॥

कबिरा पांचो बलधिया, ऊजर ऊजर जाहिं।
बलिहारी वा दास की, पकरि जु राखै बांहि ॥ ४३ ॥

धरती अम्बर जायगें, विनसेगा कैलास।
एकमेक हो जायगा, कहाँ रहैंगे दास ।४४॥

एकम एका होन दे, बिनशन दे कैलास।
धरती अम्बर जान दे, मो में मेरे दास॥ ४५॥

इति सेवक का अंग ॥

——— —

अथ यति का अंग ॥ २ ॥

सदा कृपालू दुख हरन, वैर भाव नहिं दोय।
क्षमा ज्ञान सतभाषि ये, हिंसा रहित जु सोय॥ १॥

दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निष्कामता, उपजे छोह न ताप॥ २॥

इन्द्रिय दमन निग्रह करण, हृदया कोमल होय।
सदा शुची आचार सो, रह विचार सो सोय॥ ३॥

और देव नहिं चित बसै, बिनु प्रतीति भगवान।
मिलि आहार भोजन करै, तृष्णा चलै न जान॥ ४॥

सदा रहै संतोष में, धरम आप दृढ धारि।
आश एक भगवान की, और न चित्त विचारि॥ ५॥

दोय (द्वैत भाव) नहीं होने से बैर भाव नहीं हो, और कृपालु होने से सदा दुख का हरन करें, ये सन्त क्षमा ज्ञान सत्य भाषण युक्त होते हैं, और हिंसा रहित ही सो होते है ॥ १ ॥ हर्ष शोक नही व्यापता है, इससे निष्कामता पूर्वक परोपकार स्वभाव से करते हैं, तहां भी क्षोभ संताप नहीं होता है ॥ २ ॥ बाह्य इन्द्रियों का दमन और अन्तःकरण का निग्रह करते हैं, बुद्धि कोमल होती है, सो सदाचार से शुची (पवित्र) रहते

हैं, और सो सन्त आत्मविचार से युक्त रहते हैं ॥ ३ ॥ भगवान (सर्वज्ञ सर्वेश्वर) की प्रतीति विनु अन्य देव मन में नहीं बसते, और सहज में मिली वस्तु रूप आहार का भोजन करते हैं, तृष्णा से कहीं चलना नहीं जानते । ४–५ ।

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित जान ।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरजवान बखान ॥ ६ ॥

षटहुँ विकार शरीर के, तिन को चित्त न लाय ।
शोक मोह प्यास हि क्षुधा, जरा मृत्यु नशि जाय ॥ ७ ॥

मानाऽमान न चित्त धरै, औरन को सनमान ।
जो कोई आशा करै, उपदेशै तिहि ज्ञान ॥ ८ ॥

सकल कुटिलता छाडि कै, सब सो मित्र हि भाव ।
कृपावान सम ज्ञानवत, वैर भाव नहि काव ॥ ९ ॥

निश्चय भलि अरु दृढ मति, ये सब लक्षण जान ।
सोइ साधु है जगत में, जो यह लक्षणवान ॥ १० ॥

ऐसा साधू खोजि के, रहिये चरणों लाग ।
मिटै जनम की कल्पना, जाके पूरण भाग ॥ ११ ॥

शीलता (सद्वृत्तता), मत (मति) । ६ । देह के छौ विकार को मन में नहीं लावे, तो शोकादि नष्ट हो जायँ ॥ ७ ॥ आशा (ज्ञान की इच्छा) करे ॥ ८ ॥ सम ज्ञानवत (समतत्त्व के ज्ञानवाला) होवे कि जिससे किसी से वैर भाव नहीं हो ॥ ९ ॥ भली (पवित्र) और दृढ बुद्धि निश्चय रूप हो, ये सब यति साधु के लक्षण जानो ॥ १० ॥ जन्मादि की कल्पना (भ्रमादि) मिट जाय ॥ ११ ॥

इति यति का अंग ॥

अथ भीख का अंग ॥ ३ ॥

मांगन मरन समान है, सीख दई मैं तोहि।
कहैं कबिर सतगुरु सुनो, मति रे मँगाउ मोहि ॥ १ ॥

माँगन मरन समान है, तोहि दई मैं सीख।
कहैं कबिर समुझाय के, मति कोइ मांगे भीख ॥ २ ॥

मांगन गे सो मर रहे, मरै जु मांगन जाहि।
तिन ते पहिले वे मरे, होत कहत हैं नाहि ॥ ३ ॥

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहीं दोष।
कहैं कबिर अधिका गहै, ताकी गति न मोष ॥ ४ ॥

अजहूं तेरा सब मिटै जो मानै गुरु सीख।
जब लग तूं घर में रहै, मति कहुँ मांगं भीख ॥ ५ ॥

मांगना मरना तुल्य है, यह शिक्षा तुझे दी गई, सद्गुरु से प्रार्थना सुनाई जाती है कि मुझे भीख नहीं मँगाओ ॥ १ ॥ मांगन मरन तुल्यता का उपदेश दिया गया है और समझा कर कहा जाता है कि भिक्षा नहीं मागों ॥ २ ॥ क्योंकि जो मांगने गये सो मर चुके, मांगने जा रहे हैं, सो मर रहें हैं, परन्तु इन दोनों से पहले वे मरते हैं कि जो वस्तु के रहते भिक्षुक से नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥ पेट भर के अन्न मांग ले तो भिक्षुक को दोष नहीं है, अधिक का ग्रहण करने पर सुगति वा मोक्ष नहीं है ॥ ४ ॥ यदि गुरु की शिक्षा को माने तो अब भी तेरा सब दोष मिटे, वह शिक्षा यह है कि जब गृह में रहो, तब कहीं भीख नहीं मांगो ॥ ५ ॥

उदर समाता अन्न ले, तन हि समाता चीर।
अधिका संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर ॥ ६ ॥

अनमागा तो अति भला, मांगि लिया नहिं दोष ।
उदर समाता मांगि ले, निश्चय पावै मोष ।। ७ ।।

अनमागा उत्तम कहा, मध्यम मांगि जु लेय ।
कहैं कबीर निकृष्ट सो, पर घर धरना देय ।। ८ ।।

सहज मिलै सो दूध है, मांगि मिलै सो पानि ।
कहैं कबिर वह रक्त है, जामें ऐंचातानि ।। ९ ।।

आव गया आदर गया, नैनन गया सनेह ।
ये तीनो तब ही गये, जबहि कहा कछु देह ।। १० ।।

बदन समाता चीर, भी पाठ है । फकीर (विरक्त साधु) ।। ६ ।। अनमांगा (माँगने बिना मिला) अत्यन्त शुभ जीविका है । ।। ७ ।। निकृष्ट (नीच अधम) वृत्ति वह है जो दूसरे के घर में अन्नादि के लिये धरना देने से होती है ।। ८ । सहज (मांगने आदि बिना) रक्त (रुधिर) एँचातानी (हठविवाद) । ९ ।। आव (इज्जत-तेज) आदर और नैनों से स्नेह पूर्वक दर्शाया गया, ये तीनों उसी क्षण में चले गये कि जब देने के लिये कहा ।। १० ।।

भीख तीन प्रकार की, सुनहु सन्त चित लाय ।
दास कबिर परगट कहै, भिन्न भिन्न अर्थाय ।। ११ ।।

उत्तम भीख है अजगरी, सुनि लीजै निज बैन ।
कहैं कबिर ताके गहै, महा परम सुख चैन ।। १२ ।।

भँवर भीख मध्यम कही, सुनो सन्त चित लाय ।
कहैं कबिर ताके गहै, मध्यम माहिं समाय ।। १३ ।।

खर कूकर की भीख जो, निकृष्ट कहावै सोय ।
कहैं कबिर इस भीख में, मुक्ति न कबहूं होय ।। १४ ।।

अर्थाय (अर्थ समझा कर) भक्तों से प्रगट कहा जाता है ॥ ११ ॥ अजगरी (अजगर के समान स्थिर रहने में प्राप्त) उत्तम है, यह निज हित की बात सुनो। महासुख और परम चैन (स्वतन्त्रता) ॥ १२ ॥ भंवर तुल्य थोरा २ प्रेम से लेना मधुकरी वृत्ति है, इससे मध्यम सुख चैन प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ खर कूकर के समान दूर २ करके जो भीख मिलती है, सो अधम हैं ॥ १४ ॥

इति भीख का अंग ॥

अथ स्वार्थ का अंग ॥ ४ ॥

स्वारथ का सब को सगा, सारा ही जग जान ।
बिनु स्वारथ आदर करे, सो नर चतुर सुजान ॥ १ ॥

निज स्वारथ के कारने, सेव करैं संसार ।
बिनु स्वारथ भक्ती करै, सो भावै करतार ॥ २ ॥

स्वारथ कूं स्वारथ मिलै, पड़ि पड़ि लूम्बालूम्ब ।
निष्प्रेही निरधार को, कोइ न राखै झूम्ब ॥ ३ ॥

माया कूं माया मिलै, कर कर लम्बे हाथ ।
निष्प्रेही निरधार को, गाहक दीनानाथ ॥ ४ ।

माया कूं माया मिलै, लम्बी करके पांख ।
निर्गुन को चीन्हैं नहीं, फूटी चारो आंख ॥ ५ ॥

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एको काम ।
दुविधा में दोनो गये, माया मिले न राम ॥ ६ ॥

सगा (सबन्धी) ॥ १ ॥ सेव (सेवा) स्वार्थ रहित सेवा करने वाला ईश्वर का प्रिय होता है ॥ २ ॥ लम्बे पड़ २ कर स्वार्थी को स्वार्थी मिलता

है, निस्पृह निराधार (स्वार्थ रहित) को कोई भी झुक कर आदर पूर्वक नहीं रखता है ॥ ३ ॥ माया (मायावी धनी), गाहक (ग्रहीता·रक्षक) दीन का सर्वथा नाथ (ईश्वर) हैं ॥ ४ ॥ पांख (पक्ष-हाथ-अंक), निर्गुन (आत्मा-तथा निर्धन), चारों (विवेक-विज्ञान और बाहर के) आंख फूटी है, ॥ ५ ॥ प्रीतड़ो (प्रीति) से एको काम सरता (बनता) नहीं है, ॥ ६ ॥

इति स्वार्थ का अंग ॥

———

अथ परमारथ का अंग ॥ ५ ॥

परमारथ पाको रतन, कबहुं न दीजै पीठ।
स्वारथ सेंभल फूल है, कली अपूठी पीठ ॥ १ ॥

प्रीत रीत सब अर्थ की, परमारथ की नाहिं।
कहैं कबिर परमारथी, बिरला ह्वै कलिमांहि ॥ २ ॥

सुख के संगी स्वारथी, दुख में रहते दूर।
कहैं कबिर परमारथी, दुख सुख सदा हजूर ॥ ३ ॥

जो कोइ कर सो स्वारथी, अरस परस गुन देत।
किये विना कर सूरमा, परमारथ के हेत ॥ ४ ॥

आप स्वारथी मेदिनी, भक्ति स्वारथी दास।
कबीर जन परमारथी, डारी तन की आस ॥ ५ ॥

स्वारथ सूखी लाकड़ी, छाह बिहूना सूल।
पीपल परमारथ भजो, सुख सागर का मूल ॥ ६ ॥

धन रहै न जोबन रहै, रहै न गाम न ठाम।
कबीर जग में जस रहै, कर दे किसका काम ॥ ७ ॥

पक्का रत्न तुल्य जो परम (श्रेष्ठ) अर्थ है, उससे कभी पीठ नहीं दो, स्वार्थ तो सीमर का फूल के तुल्य है, कि जिसको कली भी अपूठी (अपनी तुच्छ) पीठ तरफ लौटती है ॥ १ ॥ संसार की सब प्रीति की रीति धन की ही कलियुग में है, परमारथी विरला होता है ॥ २ ॥ अरस परस (परस्पर) जो कोई किसी का गुन (हित) करता है, या कुछ देता है, सो स्वार्थी होकर के ही करता है। परमार्थ के लिये कोई सूरमाही कुछ दिये बिना भी करता है, सोई दूसरे के सुख दुख में सदा हजूर रहता हैं, सुख का साथी तो स्वार्थी भी होता हैं, जो दुःख में दूर भागता है। ३-४ ॥ अपने स्वार्थ के संगी तो पृथ्वी के निवासी आदि सब हैं या जलेच्छु भूमि है, भक्त जीव भक्ति को ही स्वार्थ समझता है। परमार्थी जन देह की आशा को त्यागते हैं। ५ ॥ क्योंकि छाया रहित सुखी लकड़ी तुल्य शूल कारक स्वार्थ है, इसलिये पवित्र वृक्ष पीपर के तुल्य परमार्थ को भजो कि जो सुखसागर का मूल है ॥ ६ ॥ संसार में धनादि कुछ नहीं रहता है किन्तु यश रहता है, इसलिये किसी का काम (उपकार) कर दो ॥ ७ ॥

इति परमारथ का अंग ॥

अथ आत्मानुभव का अंग ॥ ६ ॥

आतम अनुभव सूख की, जो कोइ बूझै बात।
कै जो कोई जानई, कै अपनो ही गात ॥ १ ॥

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्र दीप सम ह्वै रहे, तजि करि वाद विवाद ॥ २ ॥

आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोइ पूछै बात।
सो गूंगा गुड खाय के, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ३ ॥

ज्यों गूंगा के सैन को, गूंगा ही पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सूख को, ज्ञानी ह्वै सो जान॥ ४॥

आत्मानुभव जन्य सुख की बात यदि कोई पूछता है, तो वह कहने से नहीं समझ सकता, किन्तु जब कोई साधन करके आत्मा को जानता है, तभी उस सुख को जानता है, ज्ञानी भी उसे ज्ञान का साधनहीं बता सकता है, या अपने ही शरीर में अनुभव कर सकता है, अन्यत्र अनुभव नहीं दे सकता ॥ १॥ आत्मानुभव का चिन्ह यह है कि हर्ष शोकादि छूट जाता है, और देहाभिमान रहित होने से ज्ञानी चित्र रूप दीप के समान होकर रहता है, वादादि नहीं करता ॥ २॥ गूंगा मुख से गुड़ खाता है, परन्तु मुख से स्वाद नहीं कह सकता, तैसे ही आत्मानुभव रूप ज्ञान की बात भी वाणी का अविषय है ॥ ३॥ परन्तु जैसे गूंगा की सैन को गूंगा जानता है, तैसे ज्ञानी के सुख को ज्ञानी जानता है, ॥ ४॥

नर नारी के सूख को, खसी नहीं पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सूख को, अज्ञानी नहि जान॥ ५॥

ताको लक्षण को कहै, जाको अनुभव ज्ञान।
साध असाध न देखिये, क्यों करि करूं बखान॥ ६॥

कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहां लिखै, जित देखै तित पीव॥ ७॥

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुल्हा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥ ८॥

खसी (नपुसक) ॥ ५॥ जिसको आत्मानुभव रूप ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानी के भी वस्तुतः लक्षण को कौन कह सकता है, जो कि साधु वा असाधु भी देखने में नहीं आता, उसका व्याख्यान कैसे किया जाय

॥ ६ ॥ लिखना भी उसका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि कागज पर कागदी (कागज वाला) वा अन्य व्यवहारी जीव लिखता है, वह ज्ञानी आत्मदृष्टि (ज्ञान) को कहां लिखेगा, वह तो जहां देखता है तहां सर्वात्मा प्रिय ही उसे सत्य दीखता है, कागजादि नहीं ॥ ७ ॥ और अनादि काल से लिखा हुआ पदार्थ को लिखने की कोई जरूरत नहीं है, किन्तु सद्गुरु से देखा हुआ कि देखी (दृष्टि) की जरूरत है, ऐसा होने से दुलहिन बुद्धि दुलहा आत्मा के मिल जाने से संसार के व्यवहार तुच्छ हो जाते हैं ॥ ८ ॥

स्याम सब्ज विधि पञ्च जे, पीत अरुण अरु सेत ।
चक्षूमान अचक्षु को, ज्यों नहिं उपमा देत ॥ ९ ॥

ज्ञान भक्ति वैराग्य सुख, पीव ब्रह्म लौ धाय ।
आतम अनुभव सेज सुख, तहां न दूजा जाय ॥ १० ॥

ज्ञानी युक्ति सुनाइया, को सुनि करै बिचार ।
सूरदास की इस्तिरी, का पर करै सिंगार ॥ ११ ॥

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रहा निज रूप ।
बाहिर खोजै बापुरे, भीतर वस्तु अनूप ॥ १२ ।

स्याम (काला) सब्ज (हरा), पीत (पीला), अरुण (लाल) और श्वेत, ये पांच प्रकार के जो रूप हैं, आंख वाला आंख रहित को जैसे इनकी उपमा नहीं देता है, तैसे ज्ञानी अज्ञ से आत्मानुभव की बात नहीं करते हैं ॥ ९ ॥ ज्ञान (विवेक) भक्ति वैराग्य के सुख (शम दमादि) को और ईश्वर ब्रह्म को भी ध्यान से समझने पर जो आत्मानुभव शय्या का सुख (परमानन्द) होता है, तहां ज्ञानी के बिना दूसरा जा नहीं सकता है ॥ १० ॥ परन्तु वहां जाने के लिये ज्ञानी लोग युक्ति सुनाये हैं, उसको सुन कर भी विचार कौन करता है, और विचार नहीं करने पर

सूर की स्त्री तुल्य अविवेकी की बुद्धि साधन सींगार किस के बल पर करे ॥ ११ ॥ इससे ज्ञानी जिस (ज्ञान) युक्ति को कथा रूप से कहा, उस युक्ति को अविवेकी भूल गये, इसी से वे बावरे बाहर सुखादि खोजते हैं, और निज स्वरूप अनूप वस्तु भीतर में अति निकट ही रहता है, उसे नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

भीतर तो भेदा नहीं, बाहिर कथै अनेक ।
जोपै भीतर लखि परैं, भीतर बाहिर एक ॥ १३ ॥

नैंन समाने नैंन में, बैंन समाने बैंन ।
जीव समाने बूझ में, रहै ऐन के ऐन ॥ १४ ॥

झारी फांसी कूप में, भभकी पानी मांहि ।
भरै भभक सब मिटि गई, अब कछु कहनी नाहिं ॥ १५ ॥

भरा होय तो रीतई, रीता होय भराय ।
रीता भरा न पाइये, अनुभव सोइ कहाय ॥ १६ ॥

भीतर की आत्म वस्तु जिसके चित्त में नहीं भेदा (पैटा) वह बाहर की अनेक का कथन करता है, यदि भीतर की वस्तु समझ में आ जाय तो बाहर भीतर एक ही सत्य दीखने लगे ॥ १३ ॥ फिर बाहर के नेन (नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय) (श्रोत्रस्य श्रोत्रम्) केन १ । २) इत्यादि श्रुति कथित अन्तर के ज्ञानशक्ति से समाती है, उससे पृथक् इनकी सत्ता नहीं भासती है, और बैन (वागादि कर्मेन्द्रिय) भीतर के वाक् आदि की शक्ति में समाती है, फिर जीव को अनुभव में लीन होने पर बाहर भीतर एक ऐन की ऐन (सत्यस्य सत्यम् इति, प्राणाः सत्यं तेषामेष सत्यम् । बृहदा० २ । ३ । ६) इस वचन वर्णित सत्यों का सत्य रहता हैं ॥ १४ ॥ फिर जैसे झारी को कूप में फांसने (बांध कर डारने) से प्रथम भभक शब्द करता है, फिर भरने पर सब भभक मिट जाती है, तैसे ज्ञानी

को रागद्वेषादि पूर्वक कुछ कहना बाकी नहीं रहता है ॥ १५ ॥ सांसारिक सुख सम्पत्ति आदि से जो भरा है, सो कभी उससे रीता (खाली) भी होता है, और खाली होता है, सो फिर कभी भरता है, परन्तु इस आत्मानुभव दशा में जिस अविद्या कामादि से ज्ञानी रीता (रहित) हुआ, उन से भरा उसे कभी नहीं पा सकते, तथा जिस सत्यों का सत्य से भरा उससे खाली नहीं पा सकते, यही आत्मानुभव कहा जाता हैं, इस अवस्था में एक रस स्थिति होती है ।। १६ ।।

कहा सिखापन देत हो, समुझि देख मन माहिं ।
सबे हरफ है द्वात महँ, द्वात न हरफन माहिं ॥ १७ ॥
सुखपत माँही सब गले, मन बुधि चित परकाश ।
छिनक मांहि परलय भया, को ठाकुर को दास ।। १८ ॥

हो (हे) मनुष्यों ! शिक्षा कहाँ तक देते रहें, या तुम किसी को बाहर क्या समझाते हो, अपने मन में ही विवेक करके उस सत्य का सत्य देखो, वह मन का भी मन है, और यह समझो कि द्वात में सब अक्षर का मूल स्याही है, परन्तु द्वात अक्षर लेख में नहीं है, अर्थात् सत्य का सत्य में सब कार्य देहेन्द्रियादि का मूल माया है, परन्तु वह वस्तुतः देहेन्द्रियादि में नहीं है, क्योंकि वह असंग और विभु है, ससंग एक देशी में समा नहीं सकता है ॥ १७ ॥ और जैसे सुषुप्ति में मन बुद्धि चित्त इन सब का प्रकाश (प्रकट स्वरूप) गलता (लीन होता , है । तैसे ही ज्ञान प्रलय में जब क्षण में सब का प्रलय हुआ, तब ठाकुर और दास भी कौन रहा, केवल सत्य का सत्य ही रहा ॥ १८ ॥

जागृत जागृत सांच है, सोवत सपना सांच ।
देह गये दोऊ गये, ज्यों भगली का नाच ॥ १९ ॥
अंधरे को हाथी ज्यों, सब काहू को ज्ञान ।
अपनी अपनीं कहत हैं, काको धरिये ध्यान ॥ २० ।

१५

अन्धे मिलि हाथी छुआ, अपने अपने ज्ञान।
अपनी अपनी सब कहै, किस को दीजै कान॥ २१॥

अँधरन को हाथी सही, हैं साचे सघरे।
हाथन को टोई कहै, आंखिन के अँधरे॥ २ ॥

अंधों का हाथी सही, हाथ टटोल टटोल।
आंखों से नहिं देखिया, ताते भिन भिन बोल॥ २३॥

जाग्रत काल की वस्तु जाग्रत में और स्वप्न काल की स्वप्न में सांच हैं, परन्तु जाग्रत स्वप्न के स्थूल सूक्ष्म देह के अभाव काल में दोनों वस्तु ऐसे गये कि जैसे भगली (जादूगरी) के नाच जाता है॥ १९॥ देह द्वय काल में सब अज्ञों को अन्धों के हाथी के ज्ञान तुल्य ज्ञान है, और सब ज्ञान के अनुसार कहते हैं, किन की बात पर ध्यान दिया जाय।। २०॥ अपने अपने ज्ञान के अनुसार सब कहते हैं, किसकी बात को कान देकर सुना जाय॥ २१। सघरे (सर्वत्र) देखने बिना भिन्न २ बोलते हैं।। २२-२३॥

दूजा हैं तो बोलिये, दूजा झगरा सोहि।
दो अंधो के नाच में, कापैं काको मोहि॥ २४॥
निरजानी सो कहिय का, कहत कबीर लजाय।
अन्धे आगे नाचने, कला अकारथ जाय॥ २५॥

बचन वेद अनुभव युगुति, आनन्द की परछाँहि।
बोध रूप पुरुष अखंडित, कहवे मैं कछु नाहि॥ २६॥

बूझ सरीखी बात है, कहन सरीखी नाहिं।
जे ते ज्ञानी देखिये, ते ते संशय माहि॥ २७॥

ज्ञानी तो निर्भय भया, मानै नाहीं संक।
इन्द्रिन केरे वशि पड़ा, भुगते नरक निसंक॥ २८॥

ज्ञानी मूल गमाइया, आप भया करता।
ताते संसारी भला, सदा रहै डरता ॥ २९ ॥

दूसरी वस्तु सत्य हो तो कही जाय, परन्तु सो भी झगरा रूप ही है। दो अन्ध तुल्य दो अज्ञ की बात में कौन किससे मुग्ध हो ॥ २४ ॥ निरजानी (अज्ञ-अविवेकी) ॥ २५ ॥ वेद वचन (शब्द प्रमाण), अनुभव (प्रत्यक्ष प्रमाण) और युक्ति (अनुमान) ये सब भी आनन्दस्वरूप आत्मा की छाया है, उसी के बल से वस्तु को प्रकाशते हैं ॥ २६ ॥ सो समझने की बात हैं, केवल कहने की नहीं । समझने बिना कहने वाले शास्त्रज्ञ भी संशय ग्रस्त हैं ॥ २७ ॥ शास्त्र ज्ञान मात्र से निर्भय होकर इन्द्रिय के अधीन लोग नरक में जाते हैं ॥ २८ ॥ क्योंकि मूल तत्त्व को गमा कर कर्तृत्वादि के अभिमानी भी होते हैं ॥ २९ ॥

इति आत्मानुभव का अंग ॥

अथ एकता का अंग ॥ ७ ॥

अलख इलाही एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ १ ॥

राम रहीमा एक हैं, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ २ ॥

कृष्ण करीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ ३ ॥

काशी काबा एक है, एके राम रहीम।
मैदा इक पकवान बहु, बैठि कबीरा जीम ॥ ४ ॥

राम कबीरा एक है, दूजा कबहुँ न होय।
अन्तर टाटी भरम की, तातें देखै दोय ॥ ५ ॥

राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय ॥ ६ ॥

अलख (ईश्वर), इलाही (खुदा), काबा (मक्का), जैसे एक आटा के अनेक पकवान बनता है, तैसे एक आत्मा के औपाधिक अनेक स्वरूप हैं, एकान्त में बैठ कर शुद्धस्वरूप को विचारो समझो ॥ १-४ ॥ कबीरा (जीव), टाटी (पड़दा ॥ ५ ॥ कहन सुनन को (व्यवहार के लिये) व्यवहारिक स्वरूप अनेक हैं, पारमार्थिक स्वरूप में दो करके वही समझता है कि जिसको सतगुरु नहीं मिले हैं ॥ ६ ॥

एक वस्तु के नाम बहु, लीजै वस्तु पिछान।
नाम पच्छ नहि कीजियें, सार तत्त ले जान ॥ ७ ॥

नाम अनन्त जु ब्रह्म का, तिन का वार न पार।
मन मानै सो लीजिये, कहैं कबीर विचार ॥ ८ ॥

सब काहू का लीजिये, सांचा शब्द निहार।
पच्छपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ॥ ९ ॥

हरि का बना सरूप सब, जेता यह आकार।
अच्छर अर्थ यों भाखिये. कहैं कबीर विचार ॥ १० ॥

देखन ही की बात है, कहने को कछु नाहि।
आदि अन्त को मिलि रहा, हरिजन हरि ही मांहि ॥ ११ ॥

सबै हमारे एक हैं, जो सुमिरैं हरि नाम।
वस्तु लही पहिचानि के, बासन सो क्या काम ॥ १२ ॥

नाम के पक्षपात नहीं करके सारतत्त्व को जान लेना चाहिये ॥ ७ ॥ तिनका (नामका), निहार (देख-समझ) लीजिये। मायाद्वारा हरि का ही

यह सब स्वरूप बना है, कि जितना यह आकार है, और अक्षर (शब्द) में जैसे अर्थ रहता है, तैसे भी आकार में हरि कहे जाते हैं, तथा अक्षर (अविनाशी) अर्थ भी इस प्रकार में कहा जाता है ॥ ८-१० ॥ जानने की बात है, कहने की नहीं, जान कर ही हरिजन हरि में सदा मिल रहे हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार हरि नाम स्मरने वाले सब मेरे एक स्वरूप हैं, उस एक को समझना चाहिये, देह से क्या काम है ॥ १२ ॥

खांड़ खिलौना दो नहीं, खांड़ खिलौना एक।
तैसे सब जग देखिये, किये कबीर विवेक ॥ १३ ॥
खांड़ खिलौना तुम कहौं, एक अहै नहिं दोय।
नाम रूप दीसैं पृथक्, हस्ती घोड़ा सोय ॥ १४ ॥
उपजै एकै खांड़ ते, हस्ती घोड़ा ऊंट।
खांड विचारै पाइया, नाम रूप सब झूट ॥ १५ ॥
कबीर लोहा एक है, घड़ने में है फेर।
ताही का बखतर बना, ताही का समसेर ॥ १६ ॥
त्यों ही एके ब्रह्म ते, जीव ईश जग जान।
ब्रह्म बिचारे पाइया, नाम रूप को हान ॥ १७ ॥
जीव ब्रह्म व्योरा नहीं, जीव ब्रह्म इक अंग।
ज्यों कनक कुंडल मृद्घट, सारा फेन तरंग ॥ १८ ॥

विवेक करने पर खिलौना में खांड तुल्य जगत में ब्रह्म को देखो ॥ १३ ॥ खांड़ादि नाम भले ही तुम पृथक् कहो ॥ १४ ॥ विचारने पर सब खिलौना में खांड ही पाइये ॥ १५ ॥ घड़ने (गढ़ने) में भेद है, बखतर (कवच) समसेर (तरवार) ॥ १६ ॥ व्योरा (भेद) इक अंग (एक स्वरूप) है, परन्तु जैसे सोना से कुण्डल, मिट्टी से घट रूप विवर्त होता है, तैसे सारा संसार ब्रह्म समुद्र के फेन तरंग तुल्य है ॥ १७-१८ ॥

इति एकता का अंग ॥

अथ अविहड का अंग ।। ८ ।।

अविहड अखंडित पीव है, ताका निरभय दास ।
तीनों गुन को मेलि के, चौथे किया निवास ।। १ ।।

कबीर साथी सोई किया, दुख सुख जाहि न कोय ।
हिल मिल के संत खेलई, कबहु विछोह न होय ।। २ ।।

आदि अन्त अरु मध्य लौं, अबिहड़ सदा अभंग ।
कबीर उस करतार का, कभी न छाड़ै संग ।। ३ ।।

जिहि घट जान विजान, तेहि घट अघटन घना ।
बिनु खांडे संग्राम, नित उठि मन सो जूझना ।। ४ ।।

कबीर सिरजनहार बिनु, मेरा हित्त न कोय ।
गुन अवगुन बेडै नहीं, स्वारथ बांधा लोय ।। ५ ।।

अनहद बाजै निझर झर, उपजै ब्रह्म गियान ।
अविगत अन्तर परगटै, लागै परम धियान ।। ६ ।।

अखंड होने से अविहड (अविनाशी शान्त-सम) स्वरूप प्रभु है, उसका दास तीन गुण को मेलि (त्याग) कर शुद्ध स्वरूप में निवास किया है ।। १ ।। संत से हिलमिल कर खेलता हैं, विछोह (वियोग), ।। २ ।। अभंग (अविनाशी) ।। ३ ।। जान विजान (ज्ञान विज्ञान), अघटन (कठिनाई), घना (वहुत) ।। ४ ।। वेडै नहीं (विवेक करता नहीं ।। ५ ।। विवेक करने पर अनहद वाजता है, निझर (अविनाशी) आनन्द झरता है (मिलता है), क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के उपजने से अन्तर में अविगतात्मा प्रकट होता है, और परम ध्यान लग जाता है ।। ६ ।।

इति अविहड का अंग ।।

———

अथ कसौटी का अंग ॥ ९ ॥

सन्त सरबस दे मिले, गुरू कसौटी खाय।
राम दोहाई सत कहूँ, फेरि न उदर समाय ॥ १ ॥

खरी कसौटी राम की, कांचा टिकै न कोय।
राम कसौटी जो सहै, जीवत मिरतक होय ॥ २ ॥

खरी कसौटी तोलतां, निकसि गई सब खोंट।
सतगुरु सेना सब हनी, शब्द बान की चोट ॥ ३ ॥

हीरा पाया पारखी, घन म्हैं दीन्हा आन।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचान ॥ ४ ॥

सोने रूपे धाह दइ, उत्तम हमरी जात।
बन ही में को घूंघुची, तोली हमरे साथ ॥ ५ ॥

तोल बराबर घूंघुची, मोल बराबर नाहिं।
मेरा तेरा पटतरा, दीजै आगी माहिं ॥ ६ ॥

सन्त जन सर्वस्व देकर गुरु से मिलते हैं, और गुरु की कसौटी सहते हैं, जिससे फिर गर्भ में नहीं आते हैं ॥ १ ॥ परन्तु उस राम की खरी (सच्ची) कसौटी पर कच्चा कोई नहीं टिक सकता है ॥ २ ॥ खोंट (दोष) सब, खरी कसौटी पर तोलने (कसने) से निकल जाते हैं, क्योंकि दोष की सब सेना को सद्गुरु शब्द की चोट से नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥ सोना रूपा को अग्नि में जलाने से उसकी जाति उत्तम हो जाती है, परन्तु बन के घूंघुचीं के साथ उसको तोलना ठीक नहीं अर्थात् सन्त को असन्त के साथ गिनना उचित नहीं है ॥ ५ ॥ पठतरा (तुल्यता) ॥ ६ ॥

इति कसौटी का अंग ॥

अथ आनदेव का अंग ॥ १० ॥

आनदेव की आश करि, मुख मेले मद मांस।
जाके जन भोजन करे, निश्चय नरक निवास ॥ १ ॥

होम कनागत कारने, सांकट रांधा खाय।
जीवत विष्ठा श्वान की, मूआ नरके जाय ॥ २ ॥

आरा नारा कारने, जेता रल मल खाय।
जीवत जन्म हि स्वान का, पीछे नरकै जाय ॥ ३ ॥

सांकट हित को जाय के, सरमासरमी खाय।
कोटि जनम नरके पड़ै, तौ न पेट अघाय ॥ ४ ॥

कन्या बल अरु कारने, आनदेव को खाय।
सो नर ढोले बाजते, निश्चय नरकै जाय ॥ ५ ॥

कामि तरै क्रोधी तरै, लोभी की गति होय।
सलिल भक्त संसार में, तरत न देखा कोय ॥ ६ ॥

आन (हरि से भिन्न), मेले (देवे), मद्य मांसाहारी के यहां जाकर जो भक्त भोजन करे ॥ १ ॥ होम के लिये वा कन (कण धान्यांश, कनक) के आगत (प्राप्ति) के लिये शाक्त हिंसक के रांधा (पकाया) जो खाता है, सो जीवित दशा में श्वान की विष्ठा तुल्य अशुद्ध रहता है ॥ २ ॥ आरा (साथ खेती), नारा (साथ जलाशय) के सम्बन्ध से भी जो रल (मिल) कर मल (अशुद्ध) खाते हैं ॥ ३ ॥ हित (प्रेमी) न अघाय (पूरा न होय) ॥ ४ ॥ कन्या के विवाह वा बल (किसी काम में सहायता) के लिये ॥ ५ ॥ सलिल भक्त (जल तुल्य अधोगति वाला मद्यपादि) ॥ ६ ॥

सौ वरसाँ भक्ति करै, इक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आतमा, पर चौरासी खान ॥ ७ ।

राम नाम को छाड़ि के, करै आन को जाप।
ताके मुँह में दीजिये, नौसादर के भाप ॥ ८ ॥

राम नाम को छाड़ि के, करै और की आस।
कहैं कबिर ता दास का, होय नरक में बास ॥ ९ ॥

कामि तरै क्रोधी तरै, लोभी तरै अनन्त।
आन उपासी कृतघ्नी, तरै न गुरु कहन्त ॥ १० ॥

देवि देव मानै सबै, अलख न मानै कोय।
जा अलक्ख का सब किया, तासे बेमुख होय ॥ ११ ॥

सौ वर्ष तक सर्वात्मा हरि की भक्ति करके अन्त में एक दिन भी अन्य की पूजा में मन लगावे तो वह अपराधी जीव भेद वासना वश चौरासी की खानि में पड़ता है ॥ ७ ॥ सर्वात्मा राम के नाम को त्याग कर आन (अन्य) को जपने वाले के मुख में नौसादर के भाप (विष्ठा) दीजिये, अर्थात् राम नाम रहित मुख को अशुद्ध समझिये ॥ ८ ॥ क्योंकि राम नामादि बिना नरक होता है ॥ ९ । कामी आदि भी राम भक्ति आदि से तरते हैं, परन्तु आन उपासी (अनात्म प्रेमी) राम भक्ति रहित कृतघ्न (ईश्वरादि के उपकार को नही मानने वाले नास्तिक) नहीं तरते हैं, इस प्रकार गुरु कहते हैं ॥ १० । देवी देवादि सब को मानते हैं, परन्तु कोई अलख (निराकार-अदृश्य) हरि राम को नहीं मानते हैं, इससे जिस अलख का सब किया हुआ है उससे विमुख हो जाते हैं ॥ ११ ॥

इति आनदेव का अंग ॥

— —

अथ प्रकृति गुण का अंग ॥ ११ ॥

पहिले सेर पचीस का, सन्तो करो अहार।
गुरु शब्दे लागे रहो, दुख न होय लगार ॥ १ ॥

सुषमन डिब्बी पोत करि, दीन्ही आगि चढ़ाय।
सेर पांच को रांधि करि, सन्त होय सो खाय ॥ २ ॥

सेर पांच को खाय करि, सेर तीन को खाय।
सेर तीन नहिं खा सकै, सेर दूइ को खाय ॥ ३ ॥

सेर दूइ को खाय करि, पाया अगम अलेख।
सतगुरु शब्दे यों कहा, जाके रूप न रेख ॥ ४ ॥

दुख महल को ढाहने, सुख महले रहु जाय।
अभि अन्तर है उनमुनी, तामें रहो समाय ॥ ५ ॥

काजल तजै न स्यामता, मुकता तजै न सेत।
दुर्जन तजै न कुटिलता, सज्जन तजै न हेत। ६ ॥

पचीस (पांच भूत की प्रकृति) ॥ १ । डिब्बी (पात्र) को पोत (शुद्ध) करके, ज्ञानाग्नि पर चढाया, फिर अविद्यादि पांचों को खाया ॥ २ ॥ त्रिगुण को खाय, न हो सके तो किसी प्रकार द्वन्द्व को मिटावे ॥ ३ ॥ कर्मेन्द्रियों से अगम्य ज्ञानेन्द्रियों का अविषय को पाया ॥ ४ ॥ दुःख महल देहादि को ढाहने के लिये सुख महल में जाकर रहो, उनमुनि (समाधि अवस्था) में स्थिर होओ ॥ ५ ॥ सेत (श्वेतता), हेत (प्रेम) ॥ ६ ॥

दुर्जन की करुणा बुरी, भल सज्जन का त्रास।
सूरज जब गरमी करै, तब वरसन की आस ॥ ७ ॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पत्थर डारै कीच में, उछलि बिगारै अंग ॥ ८ ॥

चन्दा सूरज चलत न दीसै, बढ़त न दीसै बेल।
हरिजन हरि भजता ना दीसै, ये कुदरत का खेल ॥ ६ ॥

जो जाको गुन जानता, सो ताको गुन लेत।
कोयल आम ही खात है, काग लिंबोरी लेत ॥ १० ॥

इश्क खुन्नस खांसि जो, औ पीवैं मद पान।
ये छुपाये ना छुपे, परगट होय निदान ॥ ११ ॥

करुणा (दया), त्रास (भय), जैसे सूर्य की गरमी से वृष्टि होती है, तैसे सज्जन से डरने से सुख होता है ॥ ७ ॥ कुछ कह कर नीच को छेडना (बोलना) रूप संग भी नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥ बेल (लता) ॥ ६ ॥ लिंबोरी (नीम के फल) ॥ १० ॥ इश्क (प्रेम), खुन्नस (क्रोध), खांसी (खोंखी रोग), मद पान (मदिरा रूप पीने की वस्तु) को पीना, ये सब छिपाने से नहीं छिपते हैं, निदान (अवश्य) प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

इति प्रकृति गुण का अंग ॥

अथ क्रोध का अंग ॥ १२ ॥

क्रोध अगनि घर घर बढ़ी, जलै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्त जो, तिन के निकट उबार ॥ १ ॥

कोटि करम लागै रहै, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार ॥ २ ॥

जगत माहिं धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरी पहुँचा मारिये, ऐसा यम का जाल ॥ ३ ॥

दसौं दिशा से क्रोध की, उठी अपरबल आगि।
सीतल संगति साधु की, तहां उबरिये भागि ॥ ४ ॥

यह जग कोठी काठ की, चहुँ दिश लागि आग।
भीतर रहे सो जलि मुये, साधू उबरे भाग ॥ ५ ॥

गार अंगारा क्रोध झल, निन्दा धूँवाँ होय।
इन तीनों को परिहरे, साधु कहावै सोय ॥ ६ ॥

दीन (पापादि से भयभीत) तथा आत्म लीन जो नित्य भक्त हैं, ॥ १ ॥ एक क्रोध के लार (साथ पास) में करोड़ों दुष्ट कर्म लगे रहते हैं, और क्रोधावेश में अहंकार के आने पर सब सद्विचारादि नष्ट होते हैं ॥ २ ॥ अहंकार, क्रोध और काल (कल्पना-मृत्यु) रूप वना (बहुत) धोखा संसार में है, ऐसा यम का जाल रूप ये जब ही पौरी (द्वार सीढी) पर पहुँचें, तभी इन्हे मारना चाहिये ॥ ३ ॥ गार (गाली) अंगार है, क्रोध झल (लपट धाह) है, निन्दा धूँवा है ॥ ६ ॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल वचन का तीर।
भरि भरि मारै कान में, सालै सकल शरीर ॥ ७ ॥

कुटिल वचन सबसे बुरा, जारि करै तन छार।
साधु वचन जल रूप है, बरषै अमृत धार ॥ ८ ॥

साधुता बिना क्रोधी के कुबुद्धि रूप धनुष पर कुटिल वचन रूप तीर चढ रही है, जिसे भर २ कर कान में मारता है, और सम्पूर्ण शरीर को पीडित करता है ॥ ७ ॥ ऐसा कुटिल वचन सब से बुरा है, क्योंकि वह देह को जला कर छार (राख) करता है, और क्रोध रहित साधु का सत्य प्रिय हित वचन जल रूप है, सो आनन्दामृत की धारा की वर्षा करता है ॥ ८ ॥

इति क्रोध का अंग ॥

अथ लोभ का अंग ॥ १३ ॥

जब मन लागा लोभ सो, गया विषय में [1]भोय।
कहैं कबीर विचारि के, [2]केहि प्रकार धन होय ॥ १ ॥
योगी जंगम सेवड़ा, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दरशन से क्या बने, एक लोभ की लार ॥ २ ॥
कबीरु औंधी खोपड़ी, कबहूं धापै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माहिं ॥ ३ ॥

जब मन लोभ से सम्बन्ध करता है, तब विषयों में भूल जाता (आसक्त होता) है और चिन्ता लगी रहती है कि धन किस प्रकार मिले ॥ १ ॥ जब एक लोभ पास में आ जाता है, तब योगी आदि छौ दर्शन से भी कुछ नहीं बन पड़ता है, वह सब को परास्त करता है ॥ २ ॥ क्योंकि लोभ के आने पर यह औंधी खोपरी (माथा) कभी धापती (तृप्त होती) नहीं है, दिमाग में शान्ति नहीं आती है, दिमाग में यह बात बनी रहती है, कि तीनों लोक की सम्पत्ति कब मेरे ही घर में आवेगी ॥ ३ ॥

कबीर तृष्णा पापिनी, तासे प्रीति न जोर।
पैंड पैंड पाछे परै, लागै मोटी खोर ॥ ४ ॥
तृष्णा सींची ना बुझै, दिन दिन बढ़ती जाय।
जावासा का रूख ज्यों, घन मेह कुम्हिलाय ॥ ५ ॥

पैंड़ २ (सब मार्ग) में तृष्णा पीछे लगती है, जिससे बड़ा दोष लगता है ॥ ४ ॥ विषय भोग से तृष्णा बढ़ती है, जवासा का वृक्ष तुल्य सदुपदेश रूप निरन्तर मेघ से नष्ट होती है ॥ ५ ॥

इति लोभ का अंग ॥

------

१ मोय। २ कस भक्ति धन होय। पा० ॥

अथ मोह का अंग ॥ १४ ॥

मोह फंद सब फन्दिया, कोइ न सकै निबार।
कोइ साधु जन पारखी, विरला तत्त्व विचार ॥ १ ॥

मोह मगन संसार है, कन्या रही कुमारि।
काहु सुरति जो ना करी, ताते फिरि औतारि ॥ २ ॥

मोह सलिल की धार में, बहि गय गहिर गँभीर।
सुच्छम मछली सुरति है, चढ़ती उलटी नीर ॥ ३ ॥

जब घट मोह समाइया, सबे भया अँधियार।
निर्मम ज्ञान विचार के, साधू उतरे पार ॥ ४ ॥

जहँ लग सब संसार है, मिरग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल अरु, ऋषि मुनिवर सब जोह ॥ ५ ॥

मोह फांस में फंसा हुआ कोई मोह को नहीं हटा सकता, किन्तु विवेकी कोई विरला साधुजन तत्त्व विचार से हटाता है ॥ १ ॥ कन्या (बुद्धि) कुमारी (आत्मानुभव रहित) रह गई। कोई इसका सुरत (ध्यान) नहीं किया, इससे फिर जन्मना हुआ ॥ २ ॥ गभीर (बड़े लोग) मोह की धारा में पड़ कर गहिरे में बह गये, मछली तुल्य सूक्ष्म सुरति (बुद्धि) उलटी जल (आत्मा) में चढती है ॥ ३ ॥ निर्मम मोह ममता रहित) ज्ञान विचारि के (ज्ञान के लिये विचार करके) ॥ ४ ॥ सबको मोह मृग है। या सब के मनरूप मृग को मोह है, सो सुरादि सब में जोहो (विचार कर समझो ॥ ५ ॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौ, तुम सो रहै निनार।
मिरगहि बांधि विडारहू, कहैं कबीर बिचार ॥ ६ ॥

प्रथम फँदे सब देवता, बिलसैं स्वर्ग निवास।
मोह मगन सुख पाइया, मृत्यु लोक की आस ॥ ७ ॥

दूजे ऋषि मुनिवर फंसे, तासो रुचि उपजाय।
स्वर्ग लोक सुख मानहीं, धरनि परत हैं आय ॥ ८ ॥

सुर नर ऋषि मुनि सब फँसे, मृग तृष्णा जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह। ९ ॥

कुरुक्षेत्र सब मेदिनी, खेती करै किसान।
मोह मिरग सब चरि गया, आस न रहि खलिहान ॥१०॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि तक मोह का स्थान है, परन्तु तुम से वह न्यारा रह सकता है कि यदि मोह मन रूप मृग को विवेकादि से बांध कर बीग दो (इच्छा रहित होओ) ॥ ६ ॥ क्योंकि स्वर्ग में बस कर आनन्द करने वाले देव भी इच्छा से ही प्रथम फंसे हैं, और सुख पाकर अभी मोह में मगन है, फिर मर्त्य लोक की आशा किये हैं ॥ ७ ॥ तासों (उन देव सो), रुचि (इच्छा संग) उत्पन्न करके स्वर्ग में सुख मानते हैं, परन्तु स्वर्ग में जाकर फिर भूमि में आकर गिरते हैं ॥ ८ ॥ मोह से मृगतृष्णा तुल्य जगत में फंसे, मोह समुद्र में गिरे को देखो ॥ ६ ॥ कुरुक्षेत्र तुल्य सब भूमि पवित्र है, वहां कर्मी कर्मरूप खेती करते हैं, परन्तु मोह मृग सबको नष्ट करता है, खलिहान (मोक्ष क्षेत्र) में आने की आशा नहीं रह जाती ॥ १० ॥

काहु जुगुति नहि जानिया, किहि विधि बचै सुखेत।
नहि बन्दगि नहि दीनता, नहि साधू संग हेत ॥११॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौ, सब हि मोह की खान।
त्याग मोह का बासना, कहैं कबीर सुजान ॥ १२ ॥

अपना तो कोई नहीं, हम काहू के नाहिं।
पार पहूँची नाव जब, मिलि सब बिछुडे जाहिं ॥ १३ ॥

सुखेत किस प्रकार बचौ, इस युक्ति को सत्संगादि विना किसी ने नहीं जाना, क्योंकि किसी को न स्तुति बन्दना है, न दीनता है, न साधु के साथ हेत (प्रेम) है ॥ ११ ॥ आठ सिद्धि नव निद्धि तक सब पदार्थ मोह की खानि हैं, किन्तु सब वासना का त्याग को मोह का त्याग रूप सुजान कहते हैं ॥ १२ ॥ और वासना का त्याग के लिये समझना चाहिये कि, कोई वस्तु व्यक्ति अपना नहीं है, न हम किसी के हैं, जैसे नाव पर सब मिलते हैं, परन्तु नाव के पार पहुँचने पर सब बिछुड़ते हैं, तैसे अन्त में सब वियुक्त होते हैं ॥ १३ ॥

अपना तो कोई नहीं, देखा ठोकि बजाय।
अपना अपना क्या करै, मोह भरम लिपटाय ॥ १४ ॥

मोह नदी विकराल है, कोइ न उतरै पार।
सतगुरु केवट साथ ले, हंस होय यम न्यार ॥ १५ ॥

एक मोह के कारने, भरत धरी दो देह।
ते नर कैसे छूटि हैं, जिनके बहुत सनेह ॥ १६ ॥

ठोक बजाय (परीक्षा कर) के देखा गया है कि अपना कोई नहीं है, तो भी मोह ममता में लिपट (फंस) कर अपना २ क्या करते हो ॥ १४ ॥ विकराल (कठिन भयावह), सद्गुरु रूप नाविक को साथ में लेने पर जीव मोह नदी से पार होकर यम (मृत्यु), से न्यारा (रहित), होता है ॥ १५ ॥ अन्यथा एक मृग का मोह (आसक्ति), से भरत राजा दो देह को फिर धारण किये। वे मनुष्य देह से कैसे छूटेगें कि जिनको बहुत में सनेह है ॥ १६ ॥

इति मोह का अंग ॥

———

अथ दुख का अंग ॥ १५ ॥

जा दिन ते जिव जनमिया, कबहु न पाया सूख।
डाले डाले मैं फिरा, पाते पाते दूख ॥ १ ॥
कबीर सुख को जाय था, बिच में मिलि गौ दूख।
सुख जाहू घर आपने, मैं अरु मेरा दूख ॥ २ ॥
सुखिया ढूंढ़त मैं फिरूं, सुखिया मिलै न कोय।
जाके आगे दुख कहूँ, पहिले ऊठै रोय ॥ ३ ॥
जाके आगे इक कहूं, सो कहये इकवीस।
एक एकते दाझिया, कहँ ते काढ़ूं बीस ॥ ४ ॥

जनमिया (देही हुआ), पाते २ (आगे २) दुःख रहता है ॥ १ ॥ सुख की वासना से कर्मादि किया, देही बना, परन्तु वहाँ दुःख मिला, अब दुःख के भोग काल में सुख को स्वस्वरूप ही में रहना ठीक है, और दुःख भोगने बिना छुटकारा नहीं है ॥ २ ॥ इसी से खोजने पर भी देही कोई सुखिया नहीं मिलता है। जिसके आगे दुख की बात कही जाती है, वह दुःख के मारे पहले ही रो उठता है ॥ ३ ॥ और जिसके आगे मैं एक दैहिक दुःख कहता हूँ, वह न्याय दर्शन के अनुसार, मन सहित छौ इन्द्रिय, छवों से जन्य छौ ज्ञान, छवों का छौ विषय, ये अठारह और विषय जन्य सुखदुःख तथा शरीर को मिला कर इक्कीस दुःख कहता है, तथा इक्कीस नरक कहता है, तहां एक २ से सब जल रहा है, बीस को कैसे निकाला जाय ॥ ४ ॥

विष का खेत जु खेडिया, विष का बोया झाड़।
फल लागे अंगार से, दुखिया के गल हाड़ ॥ ५ ॥
झल बांये झल दाहिने, झल ही में व्यवहार।
आगे पीछे झल हि है, राखै सिरजनहार ॥ ६ ॥

मैं रोऊं संसार कूं, मुझे न रोवै कोय।
मुझ को रोवैं सो जना, नाम सनेही होय ॥ ७ ॥

कबीर दरिया परजला, दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सूं, बिनसै रतन अमोल ॥ ८ ॥

विष का खेत (दुःख का स्थान), खेडिया (जोता), और दुःख का ही झाड (वृक्ष) वोया (लगाया) जिसमें अंगार तुल्य फल लगे कि जिससे, दुखिया के हाड तक गल गया ॥ ५ ॥ झल (ताप) शुभ अशुभ सब लोक देहादि में है, क्योंकि संसार के सब व्यवहार ही झल में है, आगे पीछे सर्वत्र झल है, तो भी सिरजनहार इस में रक्षा करता है ॥ ६ ॥ मैं गुरु सब की चिन्ता करता हूँ, परन्तु मेरी चिन्ता कोई नहीं करता, नाम सनेही भक्त करता है ॥ ७ ॥ संसार में दुःख तापाग्नि लगी कि जिससे जल थल के झोल (तुच्छ प्राणी) तो दग्ध हो गये, परन्तु इस में अमोल रतन रूप जो सन्त भक्तादि हैं, सो भी विनशते (दुःख पाते हैं, तहाँ गोपाल को कुछ वश नहीं है, संसार ईश्वराधीन है । ८ ॥

सख समून्दा बीछुरा, लोग कहैं बाजन्त ।
प्रीतम आपन कारने, घर घर दाह दयन्त ॥ ९ ॥

करनि बिचारी क्या करैं, हरि नहि होय सहाय।
जिहि जिहि डाली पग धरूं, सो सो नमि नमि जाय ॥ १० ॥

सात द्वीप नव खंड में, तीन लोक ब्रह्मण्ड।
कहैं कबिर सब को लगै, देह धरे का दंड ॥ ११ ॥

देह धरे को दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुक्तै ज्ञान करि, अज्ञानी सब रोय ॥ १२ ॥

शंख (संसार समुद्र के निधि) रूप ज्ञानी वस्तुतः संसार समुद्र से बिछुरे (वियुक्त) है, जिन को लोग बाजन्त (बाजा वक्ता-देही) कहते

हैं, परन्तु अपने प्रियतमात्मा को समझाने के लिये दाह देते हैं (कष्ट सहते सहाते हैं ॥ ९ ॥ क्योंकि बेचारी केवल करनी (कर्म) कर सकती है, कि जब तक गुरु आदि रूप हरि सहाय नही करें, हरि की सहायता बिना जहाँ २ पग धरो, तहां कठिनाई है ॥ १० ॥ इसीसे सात द्वीपादि में सर्वत्र देह धरने का दंड सबको लगता है ॥ ११ ॥ यद्यपि देह धरने का दंड (सुख दुख भोग) सबको होता है, परन्तु ज्ञानी विवेक करके देहादि के धर्म मान कर व्याकुलता बिना भोगता है और अज्ञानी सब रोकर भोगता है ॥ १२ ॥

भूप दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक विपरीत ।
कहैं कबिर ये सब दुखी, सुखी सन्त मनजीत ॥ १३ ॥

वासर सुख नहिं रैन सुख, ना सुख धूप न छांह ।
कै सुख सरनै राम के, कै सुख सन्तो मांह ॥ १४ ॥

स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पूर तीन सुख नाहिं ।
सुख साहिब के भजन में, अरु सन्तन के माहिं ॥ १५ ॥

सम्पति देखि न हरषिये, विपति देखि मति रोय ।
सम्पति है तहँ विपति है, कर्ता करै सो होय ॥ १६ ॥

मन को वश करने बिना, भूपादि और रंक (दरिद्र) तथा उससे विपरीत (धनी) ये सब दुःखी हैं, मन को जीतने वाले सन्त सुखी हैं ॥ १३ ॥ दिन रात्रि आदि में कहीं सुख नहीं है, किन्तु राम के शरण में वा सन्तों में सुख है, क्योंकि वहाँ देहाभिमान नहीं है ॥ १४ ॥ स्वर्ग मर्त्य पाताल रूप तीन पुर में सुख नहीं है, साहब के भजन और सन्तों में सुख है ॥ १५ ॥ इसलिये सम्पत्ति देख कर हर्ष नहीं करो, न विपत्ति देख कर रोओ, किन्तु सदा साहब का भजन और सत्संग करो, क्योंकि जहां सम्पत्ति है, तहां भी एक दिन विपत्ति है, इस में तो कर्ता जो करता है, सोई होता है, सम्पत्ति या विपत्ति एक रस नहीं रहती है ॥ १६ ॥

सम्पति तो हरि मिलन है, विपति जु राम वियोग।
सम्पति विपती राम कहु, आन कहै सब लोग॥ १७॥

लछमि कहै मैं नित नवी, किसकि न पूरी आस।
किते सिंहासन चढि चले, कितने गये निरास॥ १८॥

दुख नहि था संसार में, नहि था सोग वियोग।
सुख ही में दुख लादिया, वोली बोले लोग॥ १९॥

सत्य सम्पत्ति हरि मिलन भजन है, और राम से वियोग ही विपत्ति है, इसलिये लौकिक सम्पत्ति विपत्ति दोनों काल में राम भजो, अन्य वस्तु को तो सब लोग कहते भजते हैं॥ १७॥ लक्ष्मी देवी कहती हैं कि, मैं सदा नवी रहती हूं, और किस भक्त की आशा मैंने नहिं पूरी की है, अर्थात् सबकी की है, परन्तु भक्ति बिना कर्मानुसार कितने सिंहासन पर चढ़ कर चले, और कितने निराश (हताश) दुःखी होकर चले, और पुर्ण आशा वाले भक्त तो गमनागमन रहित मुक्त हुए॥ १८॥ क्यों कि संसार में सत्य दुःखादि नहीं था न है, किन्तु अज्ञान से सुख स्वरूप में ही दुःख लादा है, और दुःख की बोली भी लोग बोलते हैं, ज्ञानी भक्त इन सबसे रहित होते हैं,॥ १९॥

इति दुख का अंग॥

अथ कर्म का अंग॥ १६॥

करम कचोई आतमा, निज कन खाया सोधि।
अंकुर विना न ऊगसी भावै ज्यों परमोधि॥ १॥

मोह कुटी में जलि मुआ, करम किबड़ी बारि।
कोइ एक हरि जन ऊबरा, भागा राम पुकारि॥ २॥

काया खेत किसान मन, पाप पुन्य दो बीव।
बोया लूनै आपना, काया कसके जीव ॥ ३ ॥

कचोई (कच्चा-निषिद्ध-काम्य) कर्म करने वाला जीवात्मा (मनुष्य) मानो घुन के समान अपने कन (ज्ञानांकुर की बीज शक्ति) को सोधि (खोज २) कर खा गया है, इससे उससे अंकुर (ज्ञानशक्ति) विना ज्ञानवृक्ष नहीं ऊगेगा, चाहे जैसे समझा जाय ॥ १ ॥ इससे मोहरूप कुटी में कर्म रूप फाटक द्वार पर लगाकर सापों से वह जल मुआ, कोई एक हरिजन ऊवरा जो राम पुकार कर उससे भागा ॥ २ ॥ मानव देह खेत है, मन किसान है, पाप पुण्य (धर्माधर्म) बीव (बीज दो) है, जीव काया को कस कर (कष्ट देकर) भी अपना बोया काटता (पाता-फल भोगता) है ॥ ३ ॥

काला मुँह करु कर्म का, आदर लावूं आग।
लोभ वडाई छाड़ि के, राचो गुरु के राग ॥ ४ ॥

जीव करम में जलि गया, कहै कहाँ ते राम।
कंचन जला कथीर में, जाको ठौर न ठाम ॥ ५ ॥

भरम करम की जेवरी, बल बांधा संसार।
वे क्यों छूटे बापुरे, जो बांधे करतार ॥ ६ ॥

कबीर सजडै ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
बहुत लुहारे पचि मुये, उझटत नही लगार ॥ ७ ॥

उस कच्चा कर्म का मुँह काला करो (उसे त्यागो) और आदर में आग लगाओ (उसकी इच्छा नहीं करो), लोभ और वडाई को भी त्याग कर, गुरु के राग (भक्ति) में राचो (लगो) ॥ ४ ॥ क्यों कि कच्चा कर्म से जीव जल गया (मलिन मन हो गया) वह राम भी कहाँ से कहेगा, उसका कञ्चन (विचार) मानो कथीर (कुकर्म) में जर गया, इससे अब

उसको कहीं ठौर (स्थिर) ठाम स्थान नहीं है ॥ ५ ॥ भ्रम से सिद्ध कुकर्म की रस्सी के बल से संसार बंधा है, फिर वे बावरे कैसे छूट सकते हैं, कि जिन्हे ईश्वर ही बांधा है ॥ ६ ॥ अपार झूठा मोह से जो सजड़ैं (अच्छी तरह-मूल सहित) जड़ा (बंधा) है, उसके लिये बहुत लुहार (गुरु) भी हैरान हुये, परन्तु वह लगा हुवा बन्धन उझटता (खुलता) नहीं हैं ॥ ७ ॥

कहां करूं मैं जलि गया, अन्तर लागी आग।
राम नाम काठी करी, गया कबीरा भाग ॥ ८ ॥

कबीर चन्दन परजला, तीतर बैठा माहिं।
हम तो दाझत पांख बिनु, तुम दाझत हो काहि ॥ ९ ॥

कबीर कमाई आपनी, कबहु न निष्फल जाय।
सात सिन्धु आड़ा पड़े, मिले अगाड़ी आय ॥ १० ॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेंड़ बबूल का, आम कहां तें होय ॥ ११ ॥

कहाँ (क्या) किया जाय, अन्दर में अग्नि लगने से मैं (ममता-वाला) जल गया, परन्तु राम नाम की काठी (उड़न खटोला बनाकर जो जीव भाग गया, सो नहीं जला ॥ ८ ॥ चन्दन (वासना सहित जीव) परजला (खूब जला) उसके बीच में तीतर (तैत्तिरीयोपनिषत् संबन्धी ब्रह्मानन्द के विवेकी) भी बैठा था, उसे भी दुःखी देखकर चन्दन बोला कि, मैं तो विवेकादि पांख विना जलता हूँ, तुम क्यों जलते हो ॥ ९ ॥ विवेकी कहता है कि, प्रारब्ध रूपता को प्राप्त अपनी कमाई कभी निष्फल नहीं जाती है, सात समुद्र के व्यवधान होने पर भी आगे आकर मिलती है ॥ १० ॥ इससे बुराई करके सुख चाहे तो कोई कैसे पा सकता है ॥ ११ ॥

पूरव का रबि पश्चिमे, गर जो उगै प्रभात।
लिखा मिटै नहि करम का, लिखा जु हरि के हाथ ॥ १२ ॥

बुंद पडी जा पलक में, उस दिन लिखिया लेख।
मासा घटै न तिल बढै, जो शिर कूट अनेक ॥ १३ ॥

जहँ यह जियरा पगु धरै, बखत बरावर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल बात ॥ १४ ॥

जाको जित निर्मान किय, ताको तितना होय।
मासा घटै न तिल बढै, जो सिर कूटौ कोय ॥ १५ ॥

परारब्ध पहिले बना, पीछे बना शरीर।
कबीर अचंभा है यही, मन नहिं बांधे धीर ॥ १६ ॥

गर (अगर-चाहे) प्रातः काल में सूर्य पश्चिम भी उगे तो ईश्वर के नियमानुसार लिखित (निश्चित) कर्म नहीं मिटता ॥ १२ ॥ जिस पल (क्षण) में गर्भाशय में वीर्य पहुँचा, उसी समय कर्मभोग का निश्चय हो गया, सो कुछ भी घट बढ नहीं सकता चाहे कुछ भी किया जाय ॥ १३ ॥ बखत (समय प्रारब्ध), बरावर (सदा), नसीव (भाग्य) ॥ १४ ॥ जित (जितना) निर्मान (निश्चय-सिद्ध) किया गया है ॥ १५ ॥ क्योंकि प्रारब्ध का प्रथम निश्चय होने पर पीछे शरीर उसीसे सिद्ध हुआ है, परन्तु यह आश्चर्य है कि इस वात को जानने पर भी मन धैर्य नहीं रखता है ॥ १६ ॥

कबीर रेखा कर्म की, कबहु न मिटि हैं राम।
मेटनहार समर्थ है, समझि किया है काम ॥ १७ ॥

कबीर घट में राम है, रजक मौत जिव साथ।
कहा जु चारा मनुष का, कलम धनी के हाथ ॥ १८ ॥

बखत कहो या करम कहु, नसिब कहो निरधार ।
सहस नाम है कर्म के, मन ही सिरजनहार ॥ १९ ॥

बाहिर सुख दुख देन को, हुकुम करै मन माय ।
जब ऊठे मन बखत को, बहिर रूप धरि आय ॥ २० ॥

बखत बले भवजल तरै, निर्बल भया विकार ।
यह सब किया नसीब का, रह निश्चय निरधार ॥ २१ ॥

कर्म की रेख को कभी राम भी नहीं मेटेगें, क्योंकि मेटने वाला समर्थ हैं सही, परन्तु प्रथम ही समझ कर काम किया है कि जो मेटना न हो ॥ १७ ॥ रजक (जीविका), मौत (मृत्यु) देही के साथ है, चारा (वश-शक्ति) ॥ १८ ॥ बखत, कर्म, नसीब, निरधार इत्यादि बहुत कर्म के नाम हैं, और मन में सिरजनहार है ॥ १९ ॥ बाहर के सुखदुःख देने के लिये वह मन में हुकुम (प्रेरणा) करता है, और जब मन प्रेरणा के अनुसार ऊठता है, तब बाहर में बखत (समय) का रूप धरके आता है ॥ २० ॥ फिर बखत के बल से जीव संसार को तरता है, और निर्बल बखत से जन्मादि कामादि विकार भया है, और सब नसीब का किया है, इस निश्चय को निरधार कहते हैं । अर्थात् यह निर्णित बात है ॥ २१ ॥

करम अपना परखि ले, मन नहि कीजै रीस ।
हरि लिखिया सोइ पाइये, पाथर फोरै सीस ॥ २२ ॥

कीन्हे बिना उपाय कछु, देव कबहु नहिं देत ।
खेत बीज बोवै नहीं, तो क्यों जामैं खेत ॥ २३ ॥

दुख लेने जावै नहीं, आवा आचाबूच ।
सुख का पहरा होयगा, दुःख करेगा कूच ॥ २४ ॥

होनहार सोइ होत हैं, विसर जात सब सुद्ध ।
जैसी लिखी नसीव में, तैसी उकलत बुद्ध ॥ २५ ॥

रे मन भाग्य हि भूल मत, जो आया मन भाग।
सो तेरा टलता नहीं, निश्चय संशय त्याग ॥ २६ ॥

अपना कर्म का फल दुःखादि परख (समझ) लो, फिर मन में रीस (क्रोध) नहीं करो ॥ २२ ॥ देव (ईश्वर) भी कभी दुःख अपने किये कर्म बिना नहीं देता है ॥ २३ ॥ यद्यपि कोई साक्षात् दुःख लेने नही जाता है, तथापि पूर्व कर्माधीन आचाबूच (अचानक में पूर्ण) दुःख आता है, फिर सुख का समय आने पर वह आप ही कूच (यात्रा) करेगा ॥ २४ ॥ होने वाली बात ही होती है, और सब सुद्ध (होस) भूल जाता है, और नसीब के अनुसार बुद्धि भी उकलती (उत्पन्न-प्रकट होती) है ॥ २५ ॥ इसलिये रे मन भाग्य को नहीं भूलो, और जो तेरा भाग्य आया है, सो तेरा भाग्य पलटता नहीं है, ऐसा निश्चय करके संशय को त्यागो ॥ २६ ॥

मन की संका मेटि कर, रहु निसंक निरधार।
निश्चय होय सो होयगा, जो करसी करतार ॥ २७ ॥

दुनी कहै मैं दो रंगी, पल में पलटि जु जाउँ।
सुख में जो सूता रहै, वाको दुखी बनाउँ ॥ २८ ॥

तेरा वैरी कोइ नहीं, तेरा वैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल ॥ २९ ॥

जा अकास पाताल जा, फोरि जाहु ब्रह्मण्ड।
कहैं कबिर मिटि हैं नहीं, देह धरे का दण्ड ॥ ३० ॥
लिखा मिटै नहिं करम का, गुरु कर भज हरिनाम।
सीधे मारग नित चलै, दया धरम बिसराम ॥ ३१ ॥

शंका रहित निरधार (निश्चययुक्त) रहो कि जो कर्ता का निश्चय होगा, सो उसका किया ही होगा ॥ २७ ॥ यद्यपि दुनिया कहती है कि

मैं दुरंगी हुँ, इससे पल में पलट जाऊं, सुख से सोये को दुखी बनाऊं परन्तु वस्तुतः तेरा बैरी कोई नहीं है, किन्तु मन का फैल (विस्तार) तेरा बैरी है, उसे मिटा कर सर्वत्र आनन्द करो ॥ २८-२९ ॥ परन्तु चाहे कहीं जाओ तो भी देह धरे का दंड (भोग) नहीं छूट सकता है ॥ ३० ॥ प्रारब्ध कर्म का भोग तो अवश्य होता है, परन्तु भावी कल्याण के लिये गुरु का शरण लो, हरि का भजन करो, सीधा मार्ग से सदा चलो, दया धर्म का धारण करो तो विश्राम मिलेगा ॥ ३१ ॥

इति कर्म का अंग ॥

अथ स्वाद का अंग ॥ १७ ॥

खट्टा मीठा चरपरा, जिह्वा सब रस लेय।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय ॥ १ ॥

खट्टा मीठा देखि के, रसना मेलै नीर।
जब लग मन पाको नहीं, काचो निपट कथीर ॥ २ ॥

जीभ स्वाद के कूप में, जहाँ हलाहल काम।
अंग अविद्या ऊपजै, जाय हिये ते नाम[1] ॥ ३ ॥

कर अहार मन भावता, जिह्वा केरे स्वाद।
नाक तलक पूरन भरै, क्यों कहिये वे साध ॥ ४ ॥

मांखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रहा लपटाय।
तारी पीटै सिर धुनें, लालच बुरी बलाय ॥ ५ ॥

खट्टा मीठा चटकदारादि सब राजस तामस रसको भी जिह्वा लेती है, तो वह कुतिया विषय कामादि चोरों से मिल गई, फिर सात्त्विक भोजन-द्वारा आरोग्य बुद्धि आदि को बढ़ा कर किसकी रक्षा करे ॥ १ ॥ मन की

---

१ राम।

दृढ़ता विना खट्टा आदि को देखने पर वह रसना पर जल देता है, इससे तब तक अत्यन्त चञ्चल कच्चा मन रहता है ॥ २ ॥ और जिह्वा स्वाद के कूप में गिरती है, जहाँ हलाहल (विषय विष) का काम (इच्छा) उत्पन्न होता है कि जिससे अंग (देह) में पञ्चपर्वा अविद्या उत्पन्न होती है; और हृदय से भक्ति जाती है ॥ ३ ॥ जो जिह्वा के स्वाद बस मन भावता आहार करता है, नाक तक भरता है, उसे साधु कैसे कहा जाय ॥ ४ ॥ वह गुड की माखी तुल्य फिर पश्चात्ताप करता है, लोभ बुरी वस्तु है ॥ ५ ॥

मूड़ मुड़ाया मुक्ति को, सालन कूं पछताय।
गोड़ा फूटै योग विनु, लोगन सो सिथलाय ॥ ६ ॥

रूखा सूखा खाय के, ठंढा पानी पीव।
देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावै जीव ॥ ७ ॥

आधी औ रूखी भली, सारि सोग संताप।
जो चाहैगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप ॥ ८ ॥

कबीर सांईं मूझ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी मांगत मैं डरूं, मत रूखी छिन लेय ॥ ९ ॥

जो मुक्ति के लिये माथ मुडाये हैं, सो भी स्वाद वश सालन (स्वादु) बस्तु के लिये पश्चात्ताप करते हैं, और उसके लिये द्रव्य चाहिये तो योग के विना ही आसन लगा कर गोड (पैर) को फोडते (कष्ट देते) हैं, और लोगों से शरीर की सिथिलता (कमजोरी स्थिरता) आदि देखाते हैं ॥ ६ ॥ चूपरी (घृत लगी हुई) दूसरों की रोटी को देख कर जीव (मन) में लोभ इच्छा नहीं करो ॥ ७ ॥ सारी (सम्पूर्ण रस व्यञ्जनादि युक्त) में शोक संताप है, यदि प्रारब्धानुसार रूखीसुखी में संतोष नहीं करके चूपरी चाहेगा, तो अन्याय से द्रव्योपार्जनादि बहुत पाप करेगा ॥ ८ ॥

इसलिये ईश्वर मुझे कर्मानुसार रूखी रोटी दे सोई ठीक है, अन्याय से चूपडी मांगने में डर है कि अन्याय जन्य पाप से रूखी भी नष्ट हो जाय ॥ ९ ॥

अन पानी का हार है, स्वाद संग नहिं जाय।
जो चाहै दीदार को, चुपड़ी चरै बलाय ॥ १० ॥

जिह्वा कर्म कछोटरी, तीनो गृह में त्याग।
कबीर पहिले त्याग के, पीछे ले वैराग ॥ ११ ॥

जिह्वा कर्म कछोटरी, जो तीनो वश होय।
राजा परजा यम पुरी, गंजि सकै नहिं कोय ॥ १२ ॥

खाटा मीठा खाय कर, करै इन्द्रिया भोग।
सो कैसै जा पहुँचही, साहबजी के लोक ॥ १३ ॥

अन्न और पानी शरीर का आहार (भोजन) है, इसलिये स्वाद के संग में नहीं जाना चाहिये। जो आत्मदर्शन चाहता है, सो चुपडी रूप बलाय (दुःख) को क्यों चरैगा (खायगा) ॥ १० ॥ जिह्वा के स्वाद और निषिद्ध कर्म, तथा काछ की वशता, इन तीनों को गृह में ही प्रथम त्याग कर वैराग्य का धारण करना चाहिये ॥ ११ ॥ जिह्वा आदि के तीनों के वश रहने पर राजा आदि कोई कष्ट नहीं दे सकता है ॥ १२ ॥ खट्टा आदि खाकर जो इन्द्रिय का भोग करता है, सो साहब के प्रकाश स्वरूप में कैसे जाकर पहुँचेगा ॥ १३ ॥

जूवा चोरी मुखबिरी, व्याज बिरानी नार।
जो चाहै दीदार को, इतनी बस्तु निवार ॥ १४ ॥

मुखबिरी (मुखियापन-मुखदेखी झूठी वात-चुगली), ब्याज (छल-सूद) ॥ १४ ॥

इति स्वाद का अंग ॥

———

अथ विवेक का अंग ॥ १८ ॥

फूटी आंख विवेक की, लखैं न सन्त असन्त।
जाके सँग दश बीस है, ताका नाम महन्त ॥ १ ॥

जब लग नहीं विवेक मन, तब लग लगै न तीर।
भवसागर नामी तरै, सतगुरु कहैं कबीर ॥ २ ॥

प्रगटे प्रेम विवेक दल, अभय निसान बजाय।
उग्र ज्ञान उर आवते, जग का मोह नशाय ॥ ३ ॥

गुरु पशु नर पशु नारि पशू, वेद पशू संसार।
मानुष ताको जानिये, जाको विमल विचार ॥ ४ ॥

कहैं कबीर पुकारि के, सन्त विवेकी होय।
जामें शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय ॥ ५ ॥

महन्त (महान्), तीर (सदुपदेश), नामी (नामावलम्बी सदुपदेश को धारण करनेवाला) भवसागर से तरता है ॥ १–२ ॥ क्योंकि नामावलम्ब से प्रेम और विवेक का दल (शमदमादि) अभय निसान बजाय कर (सब प्राणी को अभय दान देकर) प्रकट होते हैं, फिर उग्र (तीव्र) ज्ञान के हृदय में आते ही संसार का मोह नष्ट होता है ॥ ३ ॥ इस ज्ञान के बिना गुरु आदि के अधीन में मनुष्य पशु तुल्य रहते हैं, क्योंकि वास्तविक मनुष्य विमलात्मा के विचारवाला ही है ॥ ४ ॥ और उस विचार वाले सन्त विवेकी होते हैं, इससे शब्दादि के विवेकवाला ही छत्र धनी (स्वतन्त्र) है ॥ ५ ॥

जींव जन्तु जलहर बसै, गये विवेक जु भूल।
जल के जलचर यों कहैं, हम उडगन समतूल ॥ ६ ॥

प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माहिं।
जल के जलचर यों कहै, उडगन पति जु नाहि ॥ ७ ॥

हरिजन ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलता सो मिलै, अन्तर सब को एक ॥ ८ ॥

राम नाम सब कोइ कहै, कहने माँहि विवेक।
एक अनेके फिर मिलै, एक समाना एक ॥ ९ ॥

जो जीव जन्तु जलहर (जलघर-जलाशय-तालावादि) में बसते हैं, सो विवेक ज्ञान के भूल जाने से ऐसा कहते हैं कि मैं भी उडगन (तारा) के तुल्य हूँ (अभक्त भी अपने को भक्त तुल्य विवेक विना समझते हैं) ॥६॥ फिर विवेक बिनाही प्रातःकाल के व्याध के जाल में (मृत्यु के वस में) आ गये, तव कहने लगे कि उड़गन पति नहीं है, अर्थात् हरि की कृपा विना हमारी यह दशा है ॥ ७ ॥ हरिजन को तो ऐसा होना चाहिये कि जिसको विवेक ज्ञान रहे, वाहर व्यवहार में मिलने योग्य से मिले, सब से नहीं, परन्तु अन्तर में सब से एक शुद्ध भाव रखे ॥ ८ ॥ राम नाम सव कोई कहता है, परन्तु कहने में भी विवेक (भेद) है, एक कहनेवाला अनेक में फिर मिलता है, और एक दूसरा एक में ही समाता है ॥ ६ ॥

इति विवेक का अंग ॥

अथ क्षमा का अंग ॥ १९ ॥

क्षमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥ १ ॥

क्षमा क्रोध को छय करै, जो काहू पै होय।
कहैं कबिर ता दास को, गंजि सकै न कोय ॥ २ ॥

भली भली सब कोई कहै, रही क्षमा ठहराय।
कहैं कबिर शीतल भया, गइ जो अगन बुझाय ॥ ३ ॥

भली भली सब कोइ कहै, भली क्षमा का रूप।
जाके मन हि क्षमा नहीं, सो बूडै भवकूप ॥ ४ ॥

करगस सम दुर्जन बचन, रहै सन्त जन टार।
विजुली पड़े समुद्र में, कहा सकेगी जार ॥ ५ ॥

छोटन के उत्पात होने पर भी बड़ों को क्षमा चाहिये, इससे नफा सिवा हानि नही होती, भृगु के लात मारने से विष्णु भगवान को कुछ घटा नहीं और पूज्य हुए ॥ १ ॥ यदि किसी में क्षमा हो तो वह क्रोध को नष्ट करती है, और उस भक्त को कोई कष्ट भी नहीं दे सकता ॥ २ ॥ फिर क्षमा की स्थिरता से सब भली २ कहते हैं। और क्षमा से शान्त होने पर क्रोध अग्नि बूझ जाती है ॥ ३ ॥ रूप (स्वरूप) ॥ ४ ॥ करगस (आरा) तुल्य दुर्जन का वचन को सन्तजन क्षमा से टारे रहते हैं। यदि विजुली समुद्र में पडेगी तो क्या जला सकेगी, तैसेही सन्त में दुर्जन वचन कुछ कर नहीं सकता है ॥ ५ ॥

कांच कथीर अधीर नर, यतन करत ह्वै भंग।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाया रंग ॥ ६ ॥

कांचे को क्या ताइये, होत यतन में भंग।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाया रंग ॥ ७ ॥
वाद विवादै विष घना, बोलै वहुत उपाध।
मौन गहै सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥ ८ ॥

सवल क्षमी निर्गर्व धनी, कोमल विद्यावन्त।
भव में भूषण तीन हैं, औरो सबै अनन्त ॥ ९ ॥

जहाँ दया तहँ धर्म है, जहां लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, क्षमा जहाँ तहँ आप ॥ १० ॥

कच्चा दिल वाला चंचल धैर्य रहित नर का हित के लिये भी यतन

करने कराने से उसका भंग (नाश) होता है, इसलिये साधु (पक्का स्थिर धैर्य से युक्त) नर को कञ्चन के समान तपाइये (तप आदि साधन कराइये) तो सवाई रंग (तेज) चढेगा ॥ ६ ॥ यतन में भंग (विघ्न-उपद्रव) ॥ ७ ॥ विवाद (विरुद्धवाद) रूप वाद (कथा) में घना (बहुत) विष (दुःख) है, और निष्प्रयोजन बोलने से भी बहुत उपाधि है, इसलिये मौन गह कर सबकी बात को सहे, और अगाध नाम को सुमिरे ॥ ८ ॥ क्षमायुक्त बली, गर्वरहित धनी, और कोमल (दयालु) विद्वान् ये तीन संसार में भूषण हैं, और सच्चा भक्त योगी गुणी आदि भी गर्वादि रहित अनन्त भूषण हैं ॥ ९ ॥ आप (सर्वात्मा हरि-आत्मस्थिति) ॥ १० ॥

इति क्षमा का अंग ॥

अथ सन्तोष का अंग ॥ २० ॥

सन्तोष ही सहिदान है, शब्द हि भेद विचार ।
सतगुरु के परताप ते, सहज शील मत सार ॥ १ ॥

गोधन गजधन वाजि धन, और रतन धन खान ।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूलि समान ॥ २ ॥

साधू संतोषी सदा, जिनके निर्मल बैन ।
जिनके दर्शन परस ते, जिय उपजै सुख चैन ॥ ३ ॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह ।
जिन को कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥ ४ ॥

निज आसन संतोष में, सहज रहनि की ठौर ।
गुरु भजने आशा भई, ताते कछू न और ॥ ५ ॥

सद्गुरु के प्रताप से जो सहजशीलता और सारमत प्राप्त होता है, उसका संतोष ही सहिदान (चिन्ह-लक्षण) है, और उसका भेद विचार

रूप महात्माओं के उपदेश रूप शब्द ही से जानने योग्य है ॥ १ ॥ संसार में गवादि रूप रतन और सुवर्णादि के खानिरूप धन हैं, परन्तु जब संतोष धन आता (मिलता) है, तो ये सब धन तुच्छ हो जाते हैं ॥ २ ॥ निर्मल शब्द विचार वाले साधु सदा सन्तोषी रहते हैं, जिनके दरश परस से भी अन्य को सुख शान्ति होते हैं ॥ ३ ॥ जिनकी इच्छा गई, इससे चिन्ता भी मिटी, इससे बेपरवाह मन है, इससे जिनको कुछ भी नहीं चाहिये, सो साहन के पतियों का भी साह (बादसाहों के बादसाह) हैं ॥ ४ ॥ सहज रहनी (सहज धारना) के ठौर (स्थान) रूप संतोष में जिनका आसन (स्थिति) है, उन्हें यदि आशा भी हुई तो गुरु भजन की आशा हुई, तिससे अन्य किसी की आशा न हुई, न हो सकती है ॥ ५ ॥

जग सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहिं कोय ।
धनवन्ता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥ ६ ॥
देनेहारा राम है, जाय जंगल में बैठ ।
हरि को लेई ऊबरे, सात पताले पैठ ॥ ७ ॥
कबहुक मन्दिर मांलियां, कबहुक जंगल बास ।
सब ही ठौर सुहावना, जो हरि होवै पास ॥ ८ ॥

राम पदार्थ की प्राप्ति से सर्वथा संतोषी ही धनी है ॥ ६ ॥ क्योंकि अन्य सब कुछ भी स्वयं देनेवाला राम है, चाहे जंगल में भी जाकर बैठो राम देहीगा । सात पाताल के नीचे पैठ कर भी हरि को लेकर सब दुःख से बलि के समान उबरता है ॥ ७ ॥ यदि हरि पास में हों तो चाहे कभी मन्दिर माला (पंक्ति) युक्त सहर में वास करो, वा कभी जंगल में बसो, सब स्थान सोहावन ही है ॥ ८ ॥

इति संतोष का अंग ॥

———

अथ समदृष्टी का अङ्ग ॥ २१ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
उजियारा भौ ज्ञान का, ऊगा निर्मल सूर ॥ १ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोइ दीखै नहिं, राम रहा भर पूर ॥ २ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, दीया अविचल ज्ञान।
जहँ देखो तहं एक ही, दूजा नाही आन ॥ ३ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखो तहं एक ही, साहब का दीदार ॥ ४ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, पाया मन विश्राम।
जो हम को दिन घालतो, गयो ब्रह्म के धाम ॥ ५ ॥

समदृष्टी तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एकसी सोय ॥ ६ ॥

साम्यदृष्टिवाला सद्गुरु को प्राप्त स्वीकार किया तो सो सद्गुरु शिष्य को भी समदृष्टि कर दिया, और सब भ्रम को नष्ट किया कि जिससे ज्ञान का उजियार (प्रकाश) भया, और निर्मल सूर्य (आत्मा) उगा (प्रकट हुआ) ॥ १ ॥ भ्रम के दूर होने से दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं दीखती है, किन्तु राम ही भरपूर हो रहा है ॥ २ ॥ सद्गुरु अविचल का ज्ञान दिया कि जिससे जहाँ देखो तहाँ एक ही सम सत्य भासता है, दूजा (विषम) अन्य नहीं भासता है ॥ ३ ॥ समदृष्टि दे कर भ्रम जन्य विकार (कामादि) को मेटा कि जिससे जहाँ देखो तहाँ एक ही साहब का दर्शन होता है ॥ ४ ॥ सद्गुरु ने समदृष्टि किया कि जिससे रागद्वेषादि के अभाव से मन विश्राम (शान्ति) पाया, इससे जो मन हमे दिन में भी घालता (अन्धरात्रि के तुल्य कष्ट देता) सो अब सदा के लिये

ब्रह्मस्वरूप धाम में गया ॥ ५ ॥ समदृष्टि तब जानना चाहिये कि जब व्यवहार काल में भी शीतल (क्षमा शान्ति युक्त) और समता युक्त हो, तथा शान्तिरूप समता युक्त हो । और सब जीवों की आत्मा को सो एकसी (तुल्य) देखे ॥ ६ ॥

इति समदृष्टि का अंग ॥

अथ गुरुमुख और मनमुख का अङ्ग ॥ २२ ॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे मनी भुवंग ।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, यह गुरुमुख को अंग ॥ १ ॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे साह दिवान ।
और कबिर नहिं देखता, है वाही का ध्यान ॥ २ ॥

गुरुमुख (समदृष्टि गुरु के भक्त-गुरु की आज्ञाकारी) जीव सदा गुरु को ऐसे चितवत (समरता-ध्यान करता) रहता है कि, जिस प्रकार अपने मणि को सर्प स्मरण करता है, और वह गुरु को कब ही विसरता (भूलता) नहीं है, क्योंकि गुरुमुख को यह (स्मरण) अंग (स्वभाव-स्वरूप-देह) ही हो जाता है ॥ १ ॥ और जैसे साहु (श्रेष्ठ स्वामी) को उसका दीवान (मन्त्री आदि) स्मरण करता है, तैसे गुरुमुख गुरु का स्मरण करता है, और गुरु से और (अन्य) किसी को सत्यादि स्वरूप नहीं देखता है, क्योंकि समदृष्टि साक्षि स्वरूप उस गुरु का ही ध्यान उस शिष्य को है ॥ २ ॥

गुरुमुख गुरु आज्ञा चलै, छाड़ि देइ सब काम ।
कहैं कबिर गुरु देव को, तुरत करै परनाम ॥ ३ ॥

उलटे सुलटे वचन के, शिष्य न मानै दूख ।
कहैं कबिर संसार में, सो कहिये गुरुमुख ॥ ४ ॥

गुरुमुख (गुरु प्रधान) जीव सब काम (फलेच्छा) को त्याग देवे, और गुरु की आज्ञा के अनुसार सत्कर्मादि मार्ग में चले, और मिलने पर सब कर्मादि को त्याग कर गुरुदेव को तुरत (शीघ्र) प्रणाम करे, तथा सत्कर्मादि करके शिघ्र ही सत्कर्मादि का प्रणाम (अर्पण) गुरुदेव के प्रति करे फलाशा को दूर भगावे ।। ३ ।। और सब संसार से उलटे (विपरीत-निष्कामता-वैराग्यादि बोधक) वचन के, तथा सुलटे (संसार के अनुसार बोधक) वचन के दुःख नहीं माने (उन में असाध्यता आदि नहीं समझे) तथा परीक्षा आदि के लिये कहे गये कठिन कोमलादि वचनों से दुःखी आदि नहीं होवे, सोई संसार में गुरुमुख कहा जाता है ।। ४ ।।

गुरु से करै कपट चतुराई, सो हंसा भव भरमै आई ।
जो सिष गुरु की निन्दा करई, शूकर श्वान गर्भ में परई ।।५।।

जो मनमुख (मनो वशवर्ती) गुरु से कपट (छल) करके लौकिक चतुराई करता है, सो हंसा (जीव) संसार में आकर बार २ भरमता है, और जो शिष्य हो कर गुरु की निन्दा करता है, सो शूकर श्वानादि हीन गर्भों (योनियों) में प्राप्त होता है, इसलिये गुरु से कपटादि त्यागना चाहिये ।। ५ ।।

इति गुरुमुख और मनमुख का अंग ।।

अथ विभिचारिन का अंग ।। २३ ।।

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ।। १ ।।

सेज बिछावै सुन्दरी, अन्दर पड़दा होय ।
तन सौंपे मन दे नहीं, सदा दुहागिन सोय ।। २ ।।

जो कोई पीव (स्वामी-ईश्वर) की नारि (स्त्री-भक्त) कहावै परन्तु और (अन्य-अनात्मा) के संग में सो (आसक्त हो) रहे, और उसके मन में सदा जार (असत्पति-विषयादि) बसे, तो खसम (स्वामी-ईश्वर) कैसे खुसी (प्रसन्न-प्रत्यक्ष) हो ॥ इससे परमात्मानुभवादि के लिये अन्य संगादि को त्यागना चाहिये ॥ १ ॥ जो सुन्दरी (स्त्री-भक्त की बुद्धि) स्वामी ईश्वर के लिये शय्या बिछावे, परन्तु उसके अन्दर अविद्या कृत पड़दा (आवरण) वर्तमान हो, तथा पड़दा के अन्दर हो कर रहे, और इस तन को कर्मादि में सौंपे (अर्पण करे) परन्तु मन नहीं देवे (मन का अर्पण नहीं करे) तो वह सदा दुहागिन (पति प्रभु से अनादृत) होती है ॥ २ ॥

कबीर मन दीया नहीं, तन करि डारा जेर।
अन्तरयामी लखि गया, बात कहन का फेर ॥ ३ ॥
नव सत साजै सुन्दरी, तन मन रहि संजोय।
पिय के मन मानैं नहीं, विडंब किये का होय ॥ ४ ॥

यदि प्रभु के प्रति मन नहि दिया, और तप आदि से तन को जेर (जीर्ण-कृश) भी कर डारा (कर दिया) तो अन्तरयामी (प्रभु) ने मुख से बात कहने का फेर को भी लखि गया (मुख से भक्तादि कहाना भी झूठ समझा गया) ॥ ३ ॥ नव सत (सोलह शृंगार-सोलह कला) को सुन्दरी (स्त्री-बुद्धि) साजती (संभालती) है, परन्तु अपने तन मन से विषयादि में संयुक्त (आसक्त) हो कर रहती है, इससे यदि पिय (प्रभु) के मन में नहीं अच्छी लगती है, तो विडँब (वेषादि का विस्तार) करने से क्या फल हो सकता है ॥ ४ ॥

मुख से नाम रटा करैं, निशदिन साधुन संग।
कहु धौं कौन कुफेर से, नाहिन लागत रंग ॥ ५ ॥

मन दीया काहू ओर ही, तन साधुन के संग।
कहु कबीर कोरा गजी, कैसे लागै रंग॥ ६॥

जो जिव मुख से प्रभु के नामों को सदा रटा (जपा) करता है, और रात दिन साधुओं के सङ्ग में भी रहता है, तो भी कहो (समझो) कि कौन (कोइ) मन का कुफेर (कुचाल) से ही रंग (प्रीति-प्रतीति) नहीं लगता है॥ ५॥ वह मन का कुफेर यह है कि मन को अन्य किसी पदार्थ में दिया (लगाया) है, केवल तन को ही साधुओं के संग में रखा है, तो कोरी (अधौत) गजी (पट) तुल्य अशुद्ध मन में ब्रह्मानन्द का रंग कैसे लगे॥ ६॥

रात जगावै राँडिया, गावै विषया गीत।
मारे लोंदा लापसी, गुरु न लावै चीत॥ ७॥

अशुद्ध मन वाला पुरुष समय पाने पर रात्रि को राँडिया (वेश्या आदि) को जगाता है, राँडया का संग करता है, विषयों का गीत गाता है, और लपसी आदि भोग्य पदार्थों का लोंदा (पिण्ड) को मारता (भोगता) है, वह गुरु में चित्त को नहीं लगाता है॥ ७॥

विभिचारिन विभिचार में, आठ पहर हुसियार।
कहु कबीर पतिवर्त बिनु, क्यों रीझे भरतार॥ ८॥

व्यभिचारिन व्यभिचार में ही सदा हुसियार (चतुर-सावधान) रहती है, तो पतिवर्त धर्म का पालन (अनन्य भक्ति-परप्रेम-विवेकादि) विना भर्ता प्रभु कैसे रीझै (प्रसन्नाभिमुख किस प्रकार होवै) इसलिये व्यभिचार को त्याग कर भक्ति विवेकादि कर्तव्य हैं॥ ८॥

धन गया तो कछु गया, स्वास्थ्य गये कछु और।
चरित गया तो सब गया, ताको मिले न ठौर॥ ९॥

क्योंकि धन के जाने से थोरी हानि है, स्वास्थ्य के जाने से

उससे अधिक हानि है, परन्तु व्यभिचारादि से सच्चरित्र के जाने से लोक परलोकादि सब का नाश होने से उस जीव को कहीं ठिकाना नहीं मिलता है ॥ ६ ॥

विभिचारिन के बश नहीं, अपनो तन मन सोय ।
कह कबीर पतिवर्त बिनु, नारी गई बिगोय ॥ १० ॥

कबीर या जग आइ के, कीया बहुतक मीत ।
जिन दिल बाधा एक से, ते सोवै निश्चींत ॥ ११ ॥

जो नारी (स्त्री-कर्मी जीव) इस जगत् (मानव देह) में आकर बहुत मित्र किया (बहुत को प्रिय समझा) और प्रियतम सर्वात्मा प्रभु को नहीं समझा, ऐसी व्यभिचारिन के अपना तन मन वश में नहीं रहता है, इससे पतिवर्त (अनन्य भक्ति आदि) बिना नारी (स्त्री और कर्मी) विगोय गई (मनुष्यता आदि को व्यर्थ कष्ट करके गई) और जिसने व्यभिचार को त्याग कर पतिवर्त से दिल (मन) को एक से बाँधा (एक में लगाया) सो निश्चिन्त हो कर सोती है (समाधि सुख परमानन्द मोक्ष सुख का अनुभव करती है) ॥ १०-११ ॥

शुद्धं सर्वज्ञमव्यक्तं साक्षिसद्गुरुरूपिणम् ।
सत्यं सनातनं वंदे हरिमात्मानमक्षरम् ॥

॥ समाप्त ॥

अकारादि पद्यानुक्रमणिका

———

परम [illegible] श्री स्वामी हनुमान दास जी साहब [illegible] द्वारा व्याख्यात तथा विरचित ग्रन्थों की [illegible]

व्याख्यात ग्रन्थ

(१) बीजक भाष्य शिशुबोधिनी व्याख्या
(२) बीजक श्लोकबद्ध संस्कृत स्वानुभूति व्याख्या
(३) बीजक की संस्कृत हिन्दी व्याख्या
(४) बीजक की सारबोधिनी टीका
(५) बीजक की धनौती पाठ पर हिन्दी स्वानुभूति व्याख्या
(६) सटीक साखी ग्रन्थ भाग १-२
(७) शब्दामृत सिन्धु विरल टीका सहित
(८) तीसा यन्त्र टीका सहित
(९) तत्त्वार्थ मणिमाला सटीक
(१०) कबीर परिचय टीका सहित
(११) कबीर कौशल सार सटीक
(१२) संशय खण्डन टीका सहित
(१३) विचार सागर टीका सहित
(१४) अनन्त परिचय और अनन्त सागर सटीक
(१५) [illegible]
(१६) ब्रह्मसूत्र की हिन्दी टीका
(१७) ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की हिन्दी टीका
(१८) खण्डन खण्ड खाद्य की हिन्दी टीका
(१९) श्रीमद् भगवत् गीता की संस्कृत टीका
(२०) श्रीमद् भगवद् गीता हिन्दी टीका सहित
(२१) ईशावास्योपनिषद्‌की संस्कृत हिन्दी टीका
(२२) केनोपनिषद्‌की संस्कृत हिन्दी टीका
(२३) विचार चन्द्रोदय
(२४) चित्सुखी, यन्त्रस्थ
(२५) श्री कठोपनिषद् की संस्कृत हिन्दी टीका
(२६) भक्ति विवेक
(२७) वैराग्य प्रकाश
(२८) अध्यात्म प्रकाश

स्वतंत्र मौलिक रचनाएँ

(१) अध्यात्म तत्त्व सम्वाद सटीक
(२) अध्यात्म तत्त्व सम्वाद मूल
(३) तत्त्वार्थ दोहावली
(४) तत्त्वार्थमणि मंजूषा सटीक
(५) तत्त्वार्थमणि मंजूषा मूल
(६) भक्त चरितामृत
(७) लघु धर्म चन्द्रिका
(८) सद्धर्म चन्द्रिका
(९) कबीर सन्देश
(१०) दिव्य नामावली
(११) भक्ति-भक्त भगवन्त स्तुति
(१२) बीजक सार संग्रह
(१३) सद्‌गुरु कबीर वेदादि वचन रहस्यंकता
(१४) श्री हनुमान वचनामृत
(१५) बीजक सुरहस्य